''प्रेमचंद के उपन्यासों की कथा-भाषा''

(सेवासदन, कर्मभूमि और गोदान के संदर्भ में)

एम.फिल. की उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध

2002

शोध निर्देशक
डॉ० ओम प्रकाश सिंह

शोधार्थी
विवेकानन्द उपाध्याय

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY

CENTRE OF INDIAN LANGUAGES

SCHOOL OF LANGUAGE, LITERATURE & CULTURE STUDIES

NEW DELHI - 110 067

Dated : 29.7.2002

DECLARATION

I declare that the material in this M.Phil. Dissertation entitled **"प्रेमचंद के उपन्यासों की कथा-भाषा" (सेवासदन, कर्मभूमि और गोदान के संदर्भ में) (PREMCHAND KE UPANYASON KI KATHA-BHASHA" (SEWASADAN, KARMBHOOMI AUR GODAN KE SANDARBH MEIN)** submitted by me is original research work and has not been previously submitted for any other Degree of this or any other University/Institution.

VIVEKANAND UPADHYAY
(Research Scholar)

DR. OM PRAKASH SINGH
Supervisor
Centre for Indian Languages
School of Language, Literature & Culture Studies
J.N.U. New Delhi - 110067

PROF. MANAGER PANDEY
Chairperson
Centre for Indian Languages
School of Language, Literature & Culture Studies
J.N.U. New Delhi - 110067

समर्पण.....

आजी और बाबा को

अनुक्रमणिका

	पृष्ठ संख्या
पूर्वरंग	i-iii
प्रथम अध्याय :	
हिन्दी उपन्यास और कथा-भाषा	1-24
द्वितीय अध्याय :	
प्रेमचंद की कथा-भाषा की निर्मिति और 'सेवासदन'	25-54
तृतीय अध्याय :	
प्रेमचंद की कथा-भाषा का दूसरा पड़ाव : 'कर्मभूमि'	55-79
चतुर्थ अध्याय :	
'गोदान' की भाषा : परिपक्वता का सवाल	80-105
उपसंहार	106-108
संदर्भ-ग्रंथ सूची	109-113

पूर्वरंग

हिन्दी कथा साहित्य में प्रेमचंद सबसे सशक्त हस्ताक्षर हैं। उन्होंने विपुल परिमाण में साहित्य सृजन किया । उनका लेखन गुणवत्ता के स्तर पर लेखकों के लिए आज भी चुनौती का विषय है। कोई भी उपन्यास या कहानी केवल अपने कथ्य के कारण ही महत्त्वपूर्ण नहीं होती, बल्कि कथा कहने की कला भी महत्त्वपूर्ण होती है। प्रेमचंद की किस्सागोई की विशेषता है कि वे कथा लिखने के बजाय कहते हैं। कथा कहने की प्रक्रिया में कथा के अन्य तत्त्वों की तुलना में भाषा की भूमिका ज्यादा महत्त्वपूर्ण होती है। हर समय तथा हर तरह की कथा में एक ही तरह की भाषा का प्रयोग नहीं हो सकता। अलग–अलग तरह की कथाएँ अलग–अलग तरह की भाषा की माँग करती हैं। प्रेमचंद के पूर्व हिन्दी कथा–भाषा का कोई स्वरूप स्थिर नहीं था। प्रेमचंद ने इसको समझ लिया।

प्रेमचंद का समय स्वाधीनता आंदोलन का समय है। यही वह समय था जिसमें हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी का विवाद साम्प्रदायिक आधार ले रहा था। प्रेमचंद पहले कथाकार हैं, जिन्होंने हिन्दी कथा साहित्य को न केवल जन–सामान्य की समस्याओं से जोड़ा, बल्कि उन्हीं को पात्र बनाकर उन्हीं की भाषा में कथा कहने की कोशिश की। पात्रों की भाषा में कथा कहना प्रेमचंद की कथा–भाषा का बहुत सशक्त पक्ष है।

प्रेमचन्द की भाषा पर शोध–कार्य करने की इच्छा एम0ए0 के पाठ्यक्रम में प्रेमचन्द को विशेष लेखक के तौर पर पढ़ते हुए जगी। उनकी भाषा की सर्जनात्मकता ने मुझे कुछ उसी तरह आकर्षित किया जिस तरह बचपन से ही बाबा स्व0 पं0 रामकृपाल उपाध्याय और आजी श्रीमती नौरंगी देवी की सटीक, मार्मिक तथा चुभती हुई भाषा आकर्षित कर रही थी। उनकी भाषा इतनी सटीक तथा तीखी होती थी कि सुनने वाले के भीतर कैप्सूल की तरह उतर जाती थी। तमाम तरह के मुहावरों, लोकोक्तियों, सूक्तियों, मसलों तथा स्थानीय व देशज शब्दों से संश्लिष्ट उनकी

ऊर्जावान भाषा हमेशा यह चुनौती देती रही है कि इतना पढ़–लिखकर भी क्या हम वैसी जीवंत तथा चुभती हुई भाषा बोल पायेंगे?

प्रस्तुत लघु शोध प्रबन्ध का पहला अध्याय 'हिन्दी उपन्यास और कथा–भाषा' है जिसके दो भाग हैं। पहला भाग 'उपन्यास की कथा–भाषा का स्वरूप' है इसमें उपन्यास की कथा–भाषा की संरचना का विश्लेषण कर उसे कविता, कहानी तथा नाटक की भाषा से अलगाकर उपन्यास की संरचना के भीतर व्याख्या करने की कोशिश की गई है। दूसरा भाग 'प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यासों की कथा–भाषा का स्वरूप और विकास' है। इसके अन्तर्गत पं0 श्रद्धाराम फिल्लौरी के उपन्यास 'भाग्यवती', लाला श्रीनिवास दास के 'परीक्षागुरु', देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास चन्द्रकांता, अयोध्यासिंह उपाध्याय के उपन्यास 'अधखिला फूल' तथा ब्रजनन्दन सहाय के 'सौन्दर्योपासक' इत्यादि की भाषा का विश्लेषण खड़ी बोली हिन्दी गद्य की विकास प्रक्रिया के क्रम में रखकर किया गया है।

आगे के तीन अध्याय प्रेमचन्द्र के तीन उपन्यासों 'सेवासदन', 'कर्मभूमि' और 'गोदान' के विशेष अध्ययन पर आधारित हैं। इनमें उपन्यासों की संवेदना, शिल्प और भाषा के अन्तःसंबंधों की व्याख्या का प्रयास किया गया है।

'सेवासदन' प्रेमचन्द का हिन्दी में प्रकाशित पहला उपन्यास है। अतः इसमें उनके उर्दू से हिन्दी आगमन तथा उस युग के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य व भाषिक परिदृश्य को प्रेमचन्द की संवेदना से जोड़कर व्याख्यायित करने की कोशिश की गयी है।

'कर्मभूमि', 'सेवासदन' के बाद तथा 'गोदान' के ठीक पहले की रचना है। इसमें प्रेमचन्द की संवेदना तथा उपन्यास के शिल्प के साथ भाषा के विकास का अध्ययन किया गया है। भाषा के वर्गीय तथा सामाजिक आधार को स्पष्ट करते हुए भाषा के स्वरूप का विश्लेषण किया गया है।

चौथे अध्याय में 'गोदान' की भाषा का विश्लेषण प्रेमचन्द की कथा–भाषा की परिपक्वता के सन्दर्भ में किया गया है। गोदान में दिखायी देने वाले उपन्यास कला के उत्कर्ष में भाषा की भूमिका की पहचान की गयी है।

शोध निर्देशक डॉ0 ओम प्रकाश सिंह की उदार दृष्टि तथा सहृदयतापूर्ण अनुग्रह के कारण ही यह लघु शोध प्रबन्ध संभव हो पाया। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना अनुचित तो है, मगर जरूरी भी।

भारतीय भाषा केन्द्र के अध्यक्ष प्रो0 मैनेजर पाण्डेय एवं डा0 वीर भारत तलवार ने प्रेमचन्द के साहित्य में उत्सुकता पैदा कर शोध के लिए प्रेरित किया।

जे0एन0यू0 में भाषा साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान के डीन प्रो0 वसंत जी गद्रे जिन्होंने अभिभावक की तरह जे0एन0यू0 में मेरी सहायता की, उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

जे0एन0यू0 में रहने के दौरान जिन लोगों ने मेरे लिए बहुत कुछ किया तथा मैं उनके लिए कुछ नहीं कर सका उनमें सबसे पहले भारत भूषण तथा मधुसूदन हैं। सर्वेश सिंह, पीयूष, देवेन्द्र व राशिद का साथ हमेशा बड़े काम का रहा।

शोध–पत्र तैयार करने में उदय प्रकाश यादव, आनन्द शुक्ल, सुभाषचन्द्र, ज्योतिर्मय तथा अमित राय ने सहयोग दिया। टंकण के दौरान मुझे चिंतामुक्त रखने के लिए 'प्रिंट मीडिया' परिवार, बेर सराय को आभार।

'आजी', 'मम्मी–पापा', वन्दना व आराधना दीदी तथा भांजे प्रणव से दूर रहकर उनकी यादों के बीच यह लघु शोध प्रबन्ध तैयार हुआ। फोन पर भांजे प्रणव की बातें तनाव को कम करने में सहायक हुईं।

सबसे अन्त में उस परम सत्ता का स्मरण जो गुरु भी है, भगवान भी और भगवान से बड़ा भी। और उससे प्रार्थना–

"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः"

विवेकानन्द उपाध्याय

प्रथम अध्याय

हिन्दी उपन्यास और कथा-भाषा

उपन्यास की कथा-भाषा का स्वरूप :

भाषा के सामान्यतया दो रूप होते हैं– बोलचाल की भाषा तथा अकादमिक भाषा। बोलचाल की भाषा बोली के करीब होती है तथा दैनिक जीवन में आम व खास सभी लोग उसका इस्तेमाल करते हैं। उसी भाषा का मार्जन और परिष्कार कर उसको व्याकरण के अनुशासन में बाँधकर अकादमिक रूप दे दिया जाता है। यह अकादमिक रूप ही भाषा का दूसरा रूप होता है। साहित्य की भाषा, भाषा के बोलचाल तथा अकादमिक दोनों ही छोरों को स्पर्श करती है, अर्थात दोनों की शब्द सम्पदा का उपयोग करती है। साहित्य की भाषा तथा बोलचाल की भाषा में व अकादमिक भाषा में अन्तर तात्विक होने के बजाय संरचनात्मक या प्रयोगात्मक होता है। इस संदर्भ में यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि अकादमिक भाषा तथा साहित्यिक भाषा दोनों बोलचाल से अलग भाषाएँ नहीं है बल्कि बोलचाल की भाषा के ही विविध रूप हैं। साहित्यिक भाषा के वैशिष्ट्य को उद्घाटित करते हुए डॉ0 गणपति चन्द्र गुप्त ने लिखा है, "भाषा विज्ञान के अनुसार भाषा के चार पक्ष माने जाते हैं– ध्वनि, शब्द, रूप, अर्थ एवं वाक्य रचना। इसमें से प्रत्येक पक्ष के अपने स्वाभाविक गुण होते हैं। ध्वनि में मात्रा व बलाघात के तत्व होते हैं जिनसे लय और संगीत की सृष्टि होती है। साहित्य के कुछ रूपों में ध्वनि के विशेष संयोजन द्वारा ओज, माधुर्य आदि गुणों की सृष्टि की जाती है। भाषा के शब्द रूपों के विशेष संयोजन के द्वारा साहित्य में विभिन्न वृत्तियों एवं शब्दालंकारों (अनुप्रास, यमक, श्लेष) आदि की आयोजना की जाती है, तो अर्थ की विशेषता के द्वारा लाक्षणिक एवं व्यंग्यात्मक प्रयोगों, अर्थालंकारों, प्रतीकों एवं बिम्बों की आयोजना होती है। इसी प्रकार वाक्य रचनामें वैशिष्ट्य के द्वारा साहित्य में क्रम, संघटना, छन्दोबद्धता आदि का संयोजन होता है। अस्तु, साहित्य की भाषा में विशिष्टता लाने के लिए भाषा के विभिन्न पक्षों, ध्वनिरूप अर्थ आदि का प्रयोग विशिष्ट रूप में किया जाता है।"[1]

आधुनिक युग में साहित्य ही नहीं भाषा के भी जनतंत्रीकरण की जरूरत पड़ी, राजा–महाराजाओं, सामन्तों तथा राजकुमारों–राजकुमारियो को पीछे ढकेल कर। आम लोगों ने साहित्य में पात्रों की जगह ले ली। उसी तरह साहित्य की भाषा में भी जनपदीय,स्थानीय तथा आंचलिक प्रयोग की माँग हुई। पाश्चात्य और भारतीय साहित्य के साहित्यिक आन्दोलनों को इस परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है।

साहित्यिक भाषा की अभिव्यक्तियाँ साधारणतया दो तरह की होती हैं–लयात्मक तथा स्थूल। लयात्मक अभिव्यक्ति से काव्य तथा स्थूल अभिव्यक्ति से गद्य की रचना होती है। गद्य की प्रमुख विधाएं निबंध, नाटक कहानी व उपन्यास हैं।

कथा भाषा के प्रश्न पर हमारे सामने कहानी तथा उपन्यास की भाषा होती है। कहानी तथा उपन्यास में आकारगत फर्क ही नहीं होता बल्कि इस बात का भी फर्क होता है कि उसका जीवन के साथ कैसा और कितना संबंध है? इकहरापन कहानी की मुख्य विशेषता होती है। एक पात्र, एक घटना या एक अन्तर्विरोध कहानी की विशेषता होती है। जहां यह इकहरा पन समाप्त होता है वहीं कहानी भी समाप्त हो जाती है। उपन्यास के संदर्भ में देखा जाय तो जहाँ कहानी समाप्त होती है वहीं से उपन्यास शुरू होता है। कहानी और उपन्यास की भाषा का फर्क स्पष्ट करते हुए कमलकिशोर गोयनका ने लिखा है "कहानी में व्यंजना शक्ति का विशेष महत्व है, अतः उसमें कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक बात कहने का प्रयत्न किया जाता है। एक भी अनावश्यक शब्द, वाक्यांश अथवा वाक्य कहानी की प्रभावान्विति को क्षीण कर सकता है। उपन्यास की भाषा–शैली के लिए ऐसा कठोर अनुशासन नहीं है। इसके अतिरिक्त कहानी में आरंभ और अंत तथा शीर्षक का विशेष महत्व है। . . . . उपन्यास में भी ये प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं; लेकिन कहानी की प्रभावान्विति के लिए आदि, अन्त और शीर्षक का भी प्रभावशाली होना आवश्यक है।"[2]

उपन्यास में पूरे जीवन का चित्र होता है, विश्लेषण के लिए पूरा अवकाश होता है। उपन्यास में जीवन को विस्तृत फलक पर चित्रित किया जाता है जबकि

कहानी में ऐसा नहीं हो सकता। उपन्यास में पात्रों, घटनाओं तथा अन्तर्विरोधों की बहुलता जीवन को चित्रित करने के लिए व्यापक फलक प्रदान करती है। इस व्यापक फलक को सम्पूर्णता से चित्रित करने के लिए संश्लिष्ट तथा जटिल भाषा की जरूरत होती है।

उपन्यास गहरे रूप में यथार्थ से सम्पृक्त होता है अतः उपन्यास की भाषा का विश्लेषण करते हुए भाषा तथा यथार्थ का संबंध भी महत्वपूर्ण हो जाता है। उपन्यासकार यथार्थ का सम्प्रेषण 'जस का तस' करे, यह उसकी सफलता नहीं होती। लेखक को भाषा व अनुभव दोनों ही जीवन जगत के यथार्थ से टकराव के क्रम में हासिल होते हैं। सफल उपन्यासकार उसे माना जाता है जो अपनी रचना में यथार्थ का आभासी रूप प्रस्तुत करे। आभासी यथार्थ की जरूरत यहाँ इसलिए पड़ती है क्योंकि यथार्थ के चुनाव के प्रश्न पर पात्र, पाठक तथा वह खुद होता है। ठीक यही तर्क उसकी भाषा के चुनाव का भी होता है। अतः यह प्रश्न महत्वपूर्ण हो जाता है कि लेखक किसका यथार्थ किसकी भाषा में प्रस्तुत करता है ? यहीं से यथार्थ और भाषा के तनाव का जन्म होता है। कृति की सर्जनात्मकता बहुत कुछ इसी तनाव की तीव्रता पर निर्भर करती है। भाषा लेखक के लिए माध्यम हीं नहीं अस्त्र भी होती है। लेखक जो कुछ रचता है वह भाषा के सहारे भाषा में रचता है। जिस तरह रचना में पात्र और पाठक के पहले तथा बाद में लेखक खुद उपस्थित होता है उसी तरह वह लिखता तो अपनी भाषा में है लेकिन पात्रों तथा पाठकों की भाषा का भी आभास कराता है। ऐसा वह दो कारणों से करता है। पात्रों की भाषा का आभास कथानक तथा पात्रों को विश्वसनीय बनाने के लिए पैदा किया जाता है। पाठकों की भाषा का आभास रचना से पाठक के सहज संवाद तथा सम्प्रेषण के लिए किया जाता है।

प्राचीन काल की कथाएं, आख्यान वा आख्यायिकाएं आज की कथा से इस अर्थ में भी फर्क रखती हैं कि उनमें (प्राचीन कथाओं, आख्यान व आख्यायिकाओं) पात्रों व घटनाओं की नियति लगभग तय दिखायी देती है। बाहरी घटनाएं उनके जीवन को दिशा देती हैं। उनके अन्तः करण में क्या घट रहा है इसकी कोई

जानकारी हमें नहीं मिलती । लेकिन उपन्यास और कहानी के साथ ऐसा नहीं है। आधुनिक युग के साहित्य में पात्र बाहर से नहीं बल्कि भीतर से संचालित होते हैं। उनके क्रियाकलाप प्राचीन काल से साहित्य के पात्रों की तरह तय या निर्धारित नहीं दिखायी देते। आधुनिक युग के साहित्य में पात्रों की विशिष्टता कुछ करने या न करने की नाटकीयता में निहित नहीं होती। कुछ भी करते हुए या न करते हुए उसके भीतर क्या घटित होता है आज यह महत्वपूर्ण हो गया है। मुहम्मद हसन अस्करी की टिप्पणी गौरतलब है, "अदब को इस बात में कोई दिलचस्पी नहीं कि कौन जुल्म करता है और कौन नहीं करता है– जुल्म हो रहा है या नहीं हो रहा –अदब तो यह देखता है कि जुल्म करते हुए और जुल्म सहते हुए इन्सानों का खारजी (बाह्य) और दाखिली (आन्तरिक) रवैया क्या होता है?"[3]

प्राचीन काल की कथाओं, आख्यानों व आख्यायिकाओं में ऐसा नहीं था। इसके दो कारण हो सकते हैं। पहला तो यह कि उस समय का जीवन एक हद तक सामूहिक व सरल था न कि आज कि तरह वैयक्तिक, जटिल, अन्तर्द्वन्दों तथा तनावों से भरा हुआ। दूसरे उनका (आख्यान, आख्यायिकाओं) का उद्देश्य मनोरंजन, नैतिक धार्मिक शिक्षा तथा उपदेश होता था न कि मनुष्य के भाव जगत को आन्दोलित कर उसके मन –मस्तिष्क को बेचैन करना, जो कि आधुनिक साहित्य का उद्देश्य है।

डा0 रामदेव शुक्ल ने भाषा व अनुभव के संबंध को स्पष्ट करते हुए लिखा है "विचार भाषा में ही जन्म लेते हैं तथा आकार ग्रहण करते हैं। हम पहले अनुभव करके तब उन्हें भाषा में बद्ध नहीं करते हम भाषा में ही अनुभव करते हैं। जगत के साथ हमारा अनुभव संबंध भाषा में ही होता है।"[4] अनुभव और भाषा से जगत का रिश्ता अत्यन्त जटिल होता है हम जो कुछ अनुभव करते हैं या जिसका अनुभव करते हैं वह पहले से ही सृष्ट होता है। इस प्रकार हमारा कोई भी अनुभव रचना की दृष्टि से नया नहीं होता है: बल्कि वह एक तरह की पुनर्रचना होता हैं। यही स्थिति भाषा के साथ भी होती है। भाषा में शब्द हमारे लिए नये नहीं होते ,नया होता है उन शब्दों का रचाव, जो वाक्य की संरचना में व्यक्त होता है। हमारे पास तरह –तरह के

अनुभव टुकडे–टुकड़े में स्मृति में मौजूद होते हैं। जब इन पुराने अनुभवों के टुकड़ों का रचाव एक विशेष समय व स्थान पर संगठित होता है तो वह एक नया अनुभव होता है। इसी तरह भाषा में वाक्य भी शब्दों की अंतर–संबद्धता के रचाव पर निर्भर करता है। अनुभव की रचना तथा भाषा की रचना के संदर्भ में राघव प्रकाश का वक्तव्य द्रष्टव्य है, "हर अनुभव न तो किसी पुराने अनुभवों की पुनरावृत्ति होता है और न ही एकदम नया, बल्कि वह पुराने अनुभवों से पुनस्सृजित होता है।..... अनुभव के रचाव का यही तर्क भाषा के रचाव का भी है। भाषा के नामादि शब्द अनुभव की वस्तुओं के साथ विकसित होते हैं। वस्तुओं के अंतर–संबंधों के विकास के साथ–साथ अंतर–संबंधों को व्यक्त करने वाले शब्दों एवं उनकी संयोजन व्यवस्थाओं का विकास होता है। ..... जिस प्रकार अनुभव विभिन वस्तुओं के अंतर संबंध में निहित होता है, उसी प्रकार भाषा शब्दों के अंतर संबंध में निहित होती है। पुनस्सृजन के दौरान अनुभव की जो लघुत्तम इकाई है, वही भाषा में वाक्य है।"[5]

भाषा और अनुभव के संबंध में प्राथमिक स्तर पर अनुभव को ही स्वीकार किया जाता है। बाह्य पदार्थ हमारी इन्द्रियों के सम्पर्क में आते हैं। यह क्रिया मनुष्यों और पशुओं में समान रूप से होती है। लेकिन उन अनुभवों के आधार पर ध्वनि प्रतीकों की व्यवस्था मनुष्य निर्धारित कर लेता है। ये ध्वनि प्रतीक उन वस्तुओं के गुणों से अविच्छेद्य नहीं होते। अगर ऐसा होता तो दुनियाँ में विभिन्न प्रकार की भाषाओं के बजाय एक ही भाषा होती। किसी एक भाषा की कृति का दूसरी भाषा में अनुवाद संभव नहीं होता। कहने का अर्थ यह है कि शब्द का पदार्थ से संबंध विवेकाधीन या आरोपित होता है, सार्वभौम नहीं। यह भाषा के निर्माण की प्राथमिक प्रक्रिया है। भाषा जब विचार के साथ जुड़ती है तब संभवतः स्थिति उलट जाती है। तब हम विचारों को भाषा नहीं देते बल्कि भाषा में विचार तलाशते हैं। तुलसीदास की उक्ति "देखिअहि रूप नाम आधीना, रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना।"[6] नाम अर्थात् शब्द की सत्ता रूपयानी पदार्थ के ज्ञान के लिए जरूरी तथा प्राथमिक है।

सर्जनात्मक भाषा की विशिष्टता को उद्घाटित करते हुए अमृतराय ने लिखा है–"सर्जनात्मक भाषा, सार्थक, सहज, जीवंत भाषा जो एक साथ ही साधारण भी है और असाधारण भी, परिचित भी और अपरिचित भी; साधारण इस अर्थ में कि उसे साधारण बोलचाल से ही उठाया गया है, असाधारण इस अर्थ में कि उसका प्रयोग नितान्त दैनन्दिन संदर्भों से ऊपर उठकर कुछ ऐसे गहरे बहुआयामी मानवीय संदर्भो में किया जा रहा है, जिसके फलस्वरूप वह दैनिक प्रयोजन की साधारण बोलचाल की भाषा स्वतः उठकर एक नयी अर्थवत्ता पा लेती है, जो उसके लिए असाधारण है; परिचित इस अर्थ में कि शब्द सभी परिचित हैं, लेकिन भाषा अपरिचित; क्योंकि उन शब्दों से मिलकर जो भाषा बनी है, उसकी लहरें, उसकी गूँजें–अनुगूँजें, उसका वायुमंडल, सभी कुछ अपरिचित सा लगता है।"[7]

राम स्वरूप चतुर्वेदी प्रश्न खड़ा करते हैं।, "नितान्त बोल चाल की भाषा का आधार लेकर सर्जनात्मक गद्य किस तरह लिखा जाय।"[8] इसी संदर्भ में वे सम्प्रेषण व यथार्थ का सवाल उठाते हैं, "यथार्थ को बाहर रखकर वर्णित व विश्लेषित करना शास्त्रों और विज्ञानों की प्रक्रिया है, उसे अंदर अनुभव के स्तर पर उतारने में साहित्य का वैशिष्ट्य है।"[9] इस समस्या के निराकरण के लिए चतुर्वेदी जी 'कविता की भाषा' के प्रयोग की वकालत करते हैं। उपन्यास में कविता की भाषा के प्रयोग का आशय उन्हीं के शब्दों में, "वर्णन प्रधान ठोस गद्य में यथावश्यक हल्के बिम्बों का प्रयोग करते हुए अर्थ की गूँज– अनुगूँज उत्पन्न करने वाले शब्दों और मुहावरों का प्रयोग जिस से सूक्ष्म और अस्पष्ट से लगने वाले अनुभव और उनके यथार्थ का साक्षात्कार संभव हो सके।"[10]

उपन्यास कविता तथा नाटक से केवल तन्त्रगत आधार पर भिन्न नहीं होता बल्कि उनकी भाषिक संरचना भी इनसे भिन्न होती है। उपन्यास की भाषा में वर्णन की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। वर्णन एक तरह से उनकी विधा गत मजबूरी भी है। वर्णन की यह भूमिका नाटक व कविता में नहीं होती। कविता में जोर सम्प्रेषण पर होता है। कविता की विशिष्टता को रेखांकित करते हुए डा0 मैनेजर पाण्डेय ने लिखा

है, "कविता में जीवनानुभव या अनुभूति से रूप का संबंध दूसरे साहित्य रूपों की तुलना में अधिक आत्मीय और जटिल होता है। बिम्ब, प्रतीक, संकेत, फैंटेसी आदि कविता के साधन ही नहीं होते। कई बार साधन और साध्य में अद्वैत या अभेद की स्थिति होती है। फिर लय, छन्द और संगीत की आन्तरिक संरचना से भी कविता का विशिष्ट रूप बनता है।"[11] नाटक में आलेख के साथ उसका मंच, प्रकाश की व्यवस्था ध्वनि का संयोजन तथा पात्रों का अभिनय उसके अधूरे आलेख को पूरा करते हैं। उपन्यास के पास ऐसा कोई उपकरण नहीं होता। ऐसे में लेखक जीवन के विश्लेषण चित्रण व सम्प्रेषण के लिए वर्णन का सहारा लेता है। यही कारण है कथा भाषा की विशिष्टता वर्णन के साथ जीवन के विश्लेषण चित्रण व सम्प्रेषण के तनाव के साथ निर्मित होती है।

कथा–भाषा तथा नाटक की भाषा के अंतर को स्पष्ट करते हुए अज्ञेय ने लिखा है "किताब में से पढ़ी हुई भाषा में हम भाषा की कुछ शक्तियों तक सीमित रहते हैं। अवश्य ही उस भाषामें कुछ और भी कहने की सम्भावना होती है लेकिन उसे पहचानना, न पहचानना पूरी तरह पाठक पर निर्भर रहता है। पढ़े हुए नाटक में भी यह बात होगी, लेकिन मंच पर प्रस्तुत नाटक में देखते समय भाषा द्वारा जो सम्प्रेषण होता है उसमें काकु के साथ–साथ भंगिमाओं और मुद्राओं के प्रयोग से भी बहुत कुछ सम्प्रेषित होता है। भाषा की चर्चा करते समय हम प्रायः इस पक्ष की उपेक्षा कर जाते हैं। यह भूल जाते हैं कि सम्प्रेषण का कितना बड़ा भाग शब्दों से परे अध्वनित क्रियाओं के द्वारा होता है।"[12]

कथा साहित्य में साहित्यिक भाषा के प्रयोग की संभावना व सीमा को देखना महत्वूपर्ण है। इस संदर्भ में अज्ञेय की टिप्पणी द्रष्ट्व्य है, "कथा साहित्य में साहित्यक भाषा का प्रयोग नहीं चल सकता।यह बात तो उपन्यास के विकास के प्रारम्भिक युग में ही स्पष्ट हो गयी थी। लेकिन उस समय इसके निराकरण के लिए जहाँ–तहाँ प्रादेशिक भाषाओं को अथवा प्रादेशिक आंचलिक जातिगत व्यवसायगत अथवा वर्गगत शब्दों मुहावरों और व्याकरणिक भिन्नताओं को कथोपकथन में ले आना ही पर्याप्त

समझा जाता था। जैसे–जैसे उपन्यास के क्षेत्र का विस्तार बढ़ा और कथा में सामाजिक परिवर्तनों के सूक्ष्मतर पर्यवेक्षण की प्रवृत्ति बढ़ी वैसे–वैसे यह स्पष्ट होता गया कि ऐसे उपाय ना काफी हैं और समस्या पर और गहराई से विचार करना होगा।"[13]

कविता अगर आज भी सब से लोकप्रिय साहित्यिक रूप है तो उसका कारण कविता की भाषिक संरचना तथा संप्रेषणीयता ही है। कविता की भाषा की तुलना कथा–भाषा से करते हुए डेविड लॉज ने लिखा है, "गद्य केवल शब्दों के मुख्यार्थ का इस्तेमाल करता है जबकि कविता उसके सम्पृक्तार्थ का भी दोहन करती है। गद्य मुख्यतः तार्किक होता है। जबकि कविता अतार्किक संरचना का सृजन छन्द, लय, व अनुप्रास के सहारे करती है इस प्रकार गद्य प्रगतिशील होता है जबकि कविता यथास्थिति परक।"[14] इसी संदर्भ में काडवेल का मत द्रष्टव्य है। उनके अनुसार "इसका अर्थ यह है कि उपन्यास में संवेदनात्मक साहचर्य शब्दों से सम्पृक्त नहीं होते बल्कि आभासी यथार्थ की गतिशील धारा–जो कि शब्दों द्वारा संकेतित होती है–से जुड़े होते हैं। इसी कारण लय,कोमलता और शैली उपन्यास के लिए अजनबी होते हैं। उपन्यासों का अनुवाद अच्छी तरह से इसलिए हो सकता है क्योंकि वे शब्दों द्वारा निर्मित नहीं होते बल्कि नाटक की तरह दृश्यों, क्रियाकलापों से भरे होते हैं।"[15]

काडवेल के तर्कों के आगे बढ़ाते हुए डेविड लाज उपन्यासकार के भाषा प्रयोग के प्रति गंभीरता का सवाल उठाते है। वे लिखते हैं "हम साधारणतया उपन्यासकार के भाषा प्रयोग के प्रति कवि के भाषा प्रयोग की तुलना में कम जागरूक रहे हैं। हमारा झुकाव तो उपन्यास को शब्दों, चित्रों, बिम्बों, प्रतीकों और ध्वनियों की व्यवस्था के तौर पर पढ़ने और याद रखने के बजाय क्रियाकलापों, स्थितियों और वातावरण की व्यवस्था के रूप में ज्यादा रहा है। और हम कथानक तथा चरित्र जैसे तत्वों को अपरिहार्य मानते हैं।"[16]

उपन्यास के संदर्भ में यथार्थ की भूमिका पर अज्ञेय ने लिखा है " वास्तव में उपन्यास की समस्या केवल यथार्थ को प्रस्तुत करने की समस्या नहीं है बल्कि यथार्थ को रचने की समस्या है। यथार्थ को रचने और फिर उस रचे हुए यथार्थ के सम्प्रेषण की ।..... यथार्थ की समस्या किसी बाहर के यथार्थ को शीशे में उतार लेने की समस्या नहीं है, वह यथार्थ को रचने की और रचे हुए यथार्थ को जीवन्त सम्प्रेष्य रूप देने की समस्या है।"[17] कथा की विकास यात्रा में भाषा की भूमिका इसी के साथ–साथ चलती है। इसी क्रम में भाषा की भूमिका को रेखांकित करते हुए वे लिखते है– "भाषा को हम मनमाने ढ़ंग से पढ़–सुन नहीं सकते, वाक्य उलटे नहीं पढ़े जा सकते, न मनमाने ढ़ंग से जहाँ–तहाँ से शब्द उठाकर पढ़े जा सकते हैं, अर्थात भाषा यथार्थ को क्रम में बांधती है। भाषा यथार्थ को प्रस्तुत करने का माध्यम है, लेकिन उसके साथ–साथ वह यथार्थ का नियोजन भी करती है और उस नियोजित रूप में ही यथार्थ हमारे सामने आ सकता है।"[18]

उपन्यासकार जैसे–जैसे स्थूल वर्णनात्मकता से दूर हटता है तथा जटिल व संश्लिष्ट यथार्थ को ग्रहण करने व सम्प्रेषित करने का प्रयास करता है वैसे–वैसे उनकी भाषा कविता की भाषा के करीब जाने लगती है। नन्दकिशोर आचार्य की टिप्पणी इस संदर्भ में द्रष्टव्य है। "एक साथ सब कुछ को व्यक्त कर पाना आधुनिक कथा भाषा की केन्द्रीय चुनौती है जिसे अज्ञेय ने यथार्थ की 'क्रमहीन सहवर्तिता' कहा है। स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में कथा भाषा के ही दूसरे सर्जनात्मक रूप कविता के गुणों को अपने में आत्मसात कर अपनी रचनात्मकता को अधिक सामर्थ्य देने की कोशिश करती है। इस कोशिश में वह कविता तो हो नहीं सकती थी क्योंकि; क्रमबद्धता और वाक्य संगति की अनिवार्यता उसके अस्तित्व का हिस्सा है। लेकिन अपनी सीमाओं में काव्य भाषा के विशेष गुण रूपकात्मता को अपने विकसित करने में और मुक्त साहचर्य की युक्ति तथा कभी–कभी शब्दों के पुनराव के माध्यम से काव्यात्मक संश्लिष्ट यथार्थ की रचना के प्रयास उसके द्वारा किये जाने लगे।"[19]

कथा भाषा के उपर्युक्त विवेचन से कतिपय निष्कर्ष निकाले जाते हैं। पहला यह कि कथा भाषा प्रारम्भ में कविता की भाषा से एकदम अलग, एक तरह से दूसरे छोर पर खड़ी थी लेकिन बाद में उसका झुकाव कविता की भाषा की ओर बढ़ा। इसका कारण कविता की संरचना में व्यक्त होने वाले संश्लिष्ट यथार्थ को उपन्यास में भी व्यक्त करने की अकुलाहट। प्रारम्भ में उपन्यास की भाषा कविता की भाषा से इसलिए अलग थी क्योंकि उपन्यास का जन्म इतिहास की जिस प्रकिया के भीतर हुआ था उसके मूल में आधुनिकीकरण, पूंजीवाद, व्यक्तिवाद तथा मानव मुक्ति की आकांक्षा इत्यादि तत्व थे खुद पूंजीवाद सामन्तवाद के मुकाबले अपनी प्रगतिशील भूमिका लेकर उपस्थित हुआ था। आधुनिक युग का प्रतिनिधि साहित्यिक रूप उपन्यास कविता के विपरीत विशेषताएं लेकर अवतरित हुआ था।

कथा–भाषा के विवेचन का उद्देश्य साहित्यिक रचना को भाषिक संरचना में तब्दील कर देने का आग्रह नहीं है बल्कि उपन्यास की रचना में भाषा की प्रक्रिया, उसके प्रयोग तथा स्वरूप का अध्ययन ही उद्देश्य रहा है। कथा–भाषा की निर्मिति की प्रक्रिया को इतिहास की प्रक्रिया के भीतर रखकर देखने का प्रयास ही कथा भाषा के अध्ययन का आधार है। किसी भी लेखक की भाषा का स्रोत जीवन जगत होता है जिसे लेखक अपने अनुभवों से हासिल करता है। अनुभवों की सार्थकता उपन्यास में उनके कलारूप में रूपायित होने में ही निहित होती है। लेखक अपने अनुभवों को कलारूप में बदलने में कितना सफल रहा है उसकी भाषा उसमें कितनी सहायक हुई तथा उसकी भूमिका कैसी रही है यहीं विवेचन का उद्देश्य है।

प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यासों की कथा–भाषा का स्वरूप और विकास :

उपन्यास आधुनिक युग के साहित्य का प्रतिनिधि साहित्यिक रूप है। भारत में कथा साहित्य का पहला स्रोत वैदिक साहित्य है। इसमें वर्णित आख्यान, उपनिषदों तथा पुराणों की कथाएं यज्ञ, तपस्या एवं पवित्र जीवन के महत्व का प्रतिपादन करती हैं। महात्मा बुद्ध के पूर्व जन्म से संबंधित पालि की जातक कथाएं जनजीवन के

सामान्य क्रिया–कलापों का चित्रण करती हैं। इस्वी सन् की सदियों में ये कथाएं पुनः अवतार लेती हैं, लेकिन धर्म निरपेक्ष रूप में। इनकी तीन कोटियां हैं। पहली कोटि में गुणाढ्य की बृहत्कथा तथा सोमदेव का कथा सरित्सागर है। इसमें अद्भुत घटनाएं पात्र व वातावरण कौतूहल उत्पन्न करते हैं। ये कथाएं मनोरंजक हैं। दूसरी कोटि में पंचतंत्र व हितोपदेश की कथाएं है–इनमें मनोरंजन, उपदेश व नीतिपरक कथाएं हैं। तीसरी कोटि में वासवदत्ता, दशकुमार चरितम् व कादम्बरी इत्यादि आती हैं। ये काव्यात्मक कथाएं हैं। ये अलंकृत, रसात्मक तथा माधुर्य गुण से युक्त हैं। कतिपय विद्वान भारत में उपन्यास का उत्स इन्हीं आख्यायिकाओं को ही मानते हैं। पं0 किशोरी लाल गोस्वामी ने 'प्रणयिनी परिणय' के उपोद्घात में लिखा है, "जिस प्रकार साहित्य के प्रधान अंगों में नाटक का प्रचार प्रथम यहाँ ही हुआ उसी प्रकार उपन्यास की सृष्टि प्रथम यहाँ ही हुई।"[20] अपने मत के समर्थन में उन्होंने दशकुमार चरितं व कादम्बरी आदि का उदाहरण दिया है परन्तु इस मत से सहमत हो पाना आसान नहीं है; क्योंकि जिस ऐतिहासिक प्रक्रिया ने उपन्यास को आधुनिक युग के साहित्य की प्रतिनिधि विधा के तौर पर जन्म दिया है, उपन्यास के जन्म में उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्राचीन आख्यायिकाओं से उपन्यास के अंतर को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "उपन्यास विशुद्ध गद्य की उपज हैं। उसमें भाषा की गद्यात्मकता एवं सहजभाव अपेक्षित हैं।..... पुराने जमाने के वासवदत्ता,दशकुमार चरितं व कादम्बरी आदि काव्यों से ये उपन्यास भिन्न श्रेणी के हैं। उपन्यास नये यंत्र युग की उपज हैं। नये यंत्र युग ने जिन गुण–दोषों को उत्पन्न किया है, उस सबको लेकर यह नया साहित्यांग अवतीर्ण हुआ है।"[21] इसी क्रम में वे आगे लिखते हैं," चूंकि उपन्यास और कहानियां विशुद्ध गद्य युग की उपज हैं इसलिए उनकी प्रकृति में गद्य का सहज स्वाभाविक प्रवाह है। इस नवीन साहित्यांग का पुराने गद्य काव्यों से जो प्रधान अन्तर है, वह आदर्श गत है। यंत्र युग ने पश्चिम में जिस व्यावसायिक क्रांति को जन्म दिया, उसके कई फलों में से एक है–वैयक्तिक स्वाधीनता। यह वैयक्तिक स्वाधीनता ही इन उपन्यासों का आदर्श है और काव्य कला का रूढ़ि निर्धारित और परम्परा समर्थित सदाचार कथा– आख्यायिकाओं का आदर्श है। उपन्यास में दुनिया

जैसी है उसे वैसी ही चित्रित करने का प्रयास होता है। कथा और आख्यायिकाओं में कवि कल्पना के बल पर वास्तविक दुनिया से भिन्न एक नयी दुनियाँ बनाता है।"[22] इस प्रकार उपन्यास के विकास में पूंजीवाद तथा आधुनिकता की प्रगतिशील भूमिका ही मूल में हैं। वैयक्तिक स्वाधीनता तथा ईश्वरीय क्षमता के बरक्स मानवीय क्षमता में विश्वास इस युग का सबसे बड़ा प्रजातांत्रिक मूल्य है। जिस प्रकार कृषि अर्थव्यवस्था मूलक समाज संरचना आधुनिक युग की विशेषता है। उसी प्रकार साहित्य के इतिहास में महाकाव्य के स्थान पर उपन्यास का आगमन और गद्य भाषा की प्रमुखता और प्रतिष्ठा इस प्रक्रिया की मुख्य विशेषताएं हैं। महाकाव्य के स्थान पर उपन्यास के आगमन का विश्लेषण करते हुए प्रसिद्ध मार्क्सवादी विद्वान रैल्फ फॉक्स ने लिखा है

" महाकाव्य द्वारा समाज की जैसी, पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है वैसी उपन्यास द्वारा न तो कभी हुई है और न हो सकती है। महाकाव्य के पात्रों तथा उस समाज के बीच जिसमें वे रहते थे, एक संतुलन था जो अब विलुप्त हो चुका है।..... उपन्यास का विषय है व्यक्ति। यह समाज के विरूद्ध, प्रकृति के विरूद्ध व्यक्ति के संघर्ष का महाकाव्य है। और यह केवल उसी समाज में विकसित हो सकता था जिसमें व्यक्ति और समाज के बीच संतुलन नष्ट हो चुका हो और जिसमें मानव का अपने सहजीवी, साथियों अथवा प्रकृति से युद्ध ठना हो।"[23]

उपन्यास के लेखन के लिए गद्य भाषा के व्यवस्थित रूप की जरूरत थी तथा एक पाठक वर्ग जरूरी था। आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य का मुख्य संघर्ष खड़ी–बोली हिन्दी को व्यवस्थित करने का रहा है। इस युग में पत्र–पत्रिकाओं का व्यापक पैमाने पर प्रकाशन हुआ। बतौर पाठक वर्ग नौकरी पेशा शहरीं मध्यवर्ग के बिना उपन्यास का बाजार विकसित नहीं हो सकता था। इस संदर्भ में इन्द्रनाथ चौधुरी ने लिखा है "गद्य के विकास के साथ किसी सीमा तक मुद्रणयंत्र, समाचार पत्र, पाठ्य पुस्तक, शिक्षा प्रसार आदि का संयोग स्वीकार्य हो सकता है। मगर नागरिक समाज की प्रतिष्ठा एवं शहर निवासी मध्यवित्त और नौकरी पेशा वर्गो के संप्रसार के बिना न तो शिक्षा का सही प्रसार हो पाता है। और न ही ऐतिहासिक

नियमानुसार मुद्रणयंत्र एवं समाचार पत्र समुचित प्रसार–विस्तार पाते हैं। मध्यवित्त वर्ग के मानसिक विकास और अन्तर्विरोध के प्रसार तथा नए व्यावसायिक वर्ग के उदय के कारण आर्थिक व्यवस्था में उलट–फेर हुआ। मुद्रण यंत्र, पत्र तथा शिक्षा व्यवस्था के कारण व्यक्ति चेतना के साथ–साथ सामाजिक चेतना एवं यथार्थ धर्मिता को बढ़ावा मिला। परिणामतः जो बहुमुखी और नई समस्याएं हमारे सामने उपस्थित हुईं उनको अभिव्यक्त करने के लिए एक नवीन साहित्यिक विधा की आवश्यकता महसूस हुई तभी उपन्यास का जन्म हुआ।[24]

उपन्यास के लेखन के लिए गद्य भाषा के व्यवस्थित रूप की जरूरत थी तथा एक पाठक वर्ग जरूरी था।

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट करते हुए डा0 बच्चन सिंह ने लिखा है, "सन् सत्तावन (1857) दो विरोधी ताकतों की टकराहट का काल था– सामन्ती और पूँजीवादी । सामन्ती शक्तियाँ अपनी सारी ताकत लगाकर सदा के लिए समाप्त हो गयीं। सामन्तवाद की सम्पूर्ण संभावनाएं खत्म होने के बाद देश के प्रबुद्ध वर्ग के नये सिरे से सोचना शुरू किया ओर अँग्रेज शासकों ने भी इस देश, इस देश की परम्परा को समझकर आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का नवीनीकरण किया।"[25]

भारत में नवजागरण की भूमिका तथा चरित्र की पड़ताल करते हुए क0न0पनिकर ने लिखा है "धार्मिक आस्थाओं और सामाजिक व्यवहारों के बीच अंतः संबंध के कारण सामाजिक सुधार के लिए पहले धार्मिक सुधार जरूरी शर्त है। उस समय आम हिन्दू के जीवन के हर क्षेत्र में धर्म का दखल होता था। उसका खाना–पीना, चलना–फिरना, उठना–बैठना सभी कुछ धार्मिक नियमों और व्यवस्थाओं के तहत नियंत्रित और निर्धारित था। इन नियमों के उल्लंघन का मतलब था पाप और अधार्मिकता ।..... धर्म उस समय के समाज पर किस तरह हावी था, उसे देखते हुए यह बात साफ हो जाती है कि धर्म पर पकड़, बनाए बगैर किसी तरह का

सामजिक सुधार संभव नहीं था।"[26] समाज सुधार की दिशा में पहला प्रयास राजा राम मोहन राय ने किया। उन्होंने 1828 में ब्रह्म समाज की स्थापना की । उनके सत्प्रयासों से 1829में लार्ड विलियम बैंटिक ने कठोर कानून बनाकर सती प्रथा का अन्त किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना सन् 1875ई0 में की । उन्होंने अपना प्रसिद्ध ग्रंथ सत्यार्थ प्रकाश खड़ी बोली हिन्दी में लिखा। हिन्दी क्षेत्र में समाज सुधार की प्रक्रिया में आर्य समाज ही सबसे अधिक प्रभावशाली रहा।

समाज सुधार के समानान्तर देश की पारम्परिक संस्थाओं को पुनर्जीवित करने की कोशिश भी चल रही थी इस प्रक्रिया पर टिप्पणी करते हुए क0न0पनिकर ने लिखा है "जिन सिद्धान्तों के आधार पर औपनिवेशिक तन्त्र कार्य कर रहा था, वे पूर्व–औपनिवेशिक काल के मुकाबले कम प्रतिगामी थे, इसलिए औपनिवेशिक वर्चस्व के खिलाफ संघर्ष शुरू में अपनी संस्कृति की रक्षा के रूप में अभिव्यक्त हुआ।..... .जैसे–जैसे औपनिवेशिक साम्राज्य का विस्तार होता गया, सांस्कृतिक हमले से बचाव के लिए भारतीय संस्कृति को लोग ढाल बनाते गये।

औपनिवेशिक संस्कृति का यह हमला चौतरफा था। इसीलिए समूचे सांस्कृतिक अस्तित्व को लेकर भारतीयों की चिन्ता स्वाभाविक ही थी– भाषा, धर्म, कला, दर्शन सब इस औपनिवेशिक हमले के निशाने पर थे। इसीलिए जो जवाबी कार्रवाई की गई, उसकीं दो विशेषताएं थीः एक तो वैकल्पिक सांस्कृतिक–वैचारिक पद्धति का विकास और दूसरी पारम्परिक संस्थाओं को पुनर्जीवित करने की कोशिश।"[27]

भारतेन्दु युग में समाज सुधार की चेतना को साहित्यिक रूपों–नाटक, निबंध,लेख तथा उपन्यासों में–में ढाल कर प्रस्तुत किया गया । पं0 श्रद्धाराम फिल्लौरी ने 'भाग्यवती' उपन्यास की भूमिका में अपने उपन्यास लेखन के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "बहुत दिनों से इच्छा थी कि कोई पोथी हिन्दी भाषा में लिखूँ कि जिसके पढ़ने से भारतखण्ड की स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा प्राप्त हो क्योंकि यद्यपि कई स्त्रियाँ कुछ पढ़ी–लिखी तो होती हैं परन्तु सदा अपने ही घर में

बैठे रहने के कारण उनको देश–विदेश की बोलचाल और अन्य लोगों से वरत–व्यवहार की पूरी बुद्धि नहीं होतीं।"[28] 'भाग्यवती' की भाषा के संदर्भ में उन्होंने लिखा हैं "चाहे प्रसंग तो इसमें काशी वासी लोगों का है परन्तु वहाँ की बोली पूरबी और कुछ रूखी–सी होने के कारण इस ग्रंथ में वह हिन्दी भाषा लिखी है कि जो दिल्ली और आगरा, सहारनपुर, अम्बाला के इर्द–गिर्द के हिन्दू लोगों में बोली जाती है और पंजाब के स्त्री पुरूषों को भी समझनी कठिन नहीं है। इस ग्रन्थ में जिस देश और जिस भाँति के स्त्री–पुरूषों की बातचीत हुई है वह उनकी बोली और ढब से लिखी है। अर्थात पूरबी, पंजाबी, पढ़ा अनपढ़ा, स्त्री और पुरूष, गौण और मुख्य जहाँ पर जो कोई जैसे बोला उसी की बोली भरी हुई हैं।"[29]

इसी प्रकार परीक्षागुरू की भूमिकामें लाला श्री निवास दास ने लिखा है "अब तक नागरी और उर्दू भाषा मैं अनेक तरह की अच्छी–अच्छी पुस्तकें तैयार हो चुकी हैं. इसलिए अपनी भाषा मैं यह नई चाल की पुस्तक होगी. परन्तु नई चाल होने सै कोई चीज अच्छी नहीं हो सक्ती बल्कि साधारण रीति सै तो नई चाल मैं तरह, तरह की भूल होने की संभावना रहती है और मुझको अपनी मंद बुद्धि सै और भी अधिक भूल होने का भरोसा है इसलिए मैं अपनी अनेक तरह की भूलों से क्षमा मिलने का आधार केवल सज्जनों की कृपा दृष्टि पर रखता हूँ।"[30]

उपन्यास विधा चूंकि यूरोप से आयी थी अतः भारत में भी उपन्यासों के जन्म के कारण के रूप में प्रायः पूंजीवाद, मध्यवर्ग तथा राष्ट्रवाद को एक साथ बिना विचारे नत्थी कर दिया जाता है। 19 वीं सदी का उत्तरार्ध यानी, जिस समय उपन्यास हिन्दी में आरम्भ हुआ उस समय तक हिन्दी भाषी क्षेत्र में उस तरह का पूंजीवाद तथा मध्यवर्ग भारत में स्थापित नहीं हुआ था। रही बात राष्ट्रवाद की तो वह उस समय था हीं नहीं। उस समय देश भक्ति या राज भक्ति दिखायी देती है। खुद आनन्दमठ में भी यही स्थिति है। 'आनन्दमठ' किसी भारतीय भाषा में लिखा गया पहला राष्ट्रवादी उपन्यास है। इसमें भी देश भक्ति तथा राज भक्ति की, सहस्थिति है। यह सहस्थिति हमारे नवजागरण का मुख्य वैचारिक अन्तर्विरोध कही जा सकती है। लेखक देशोत्थान

की बात करते हैं समाज सुधार की बात करते हैं लेकिन सीधे–सीधे सरकार के विरोध में नहीं हैं।

मीनाक्षी मुखर्जी के अनुसार आरंभिक भारतीय उपन्यासों में तीन मुख्य रचनात्मक प्रवृत्तियाँ हैं– "आरम्भिक भारतीय उपन्यास में तीन मुख्य रचनात्मक प्रवृत्तियाँ हैं एक प्रवृत्ति समाज सुधार व उपदेश की है। दूसरी प्रवृत्ति में इतिहास और फैंटेसी के माध्यम से एक नैतिक चेतना के विकास का प्रयास है। तीसरी प्रवृत्ति समकालीन भारतीय समाज की वास्तविकताओं के यथार्थपरक चित्रण में मिलती है।"[31] हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों में ये तीनों प्रवृत्तियां देखी जा सकती हैं डा0 मैनेजर पाण्डेय ने इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है, " हिन्दी में परीक्षागुरू जैसे उपन्यासों में पहली प्रवृत्ति है, दूसरी प्रवृत्ति के एक पक्ष के महत्वपूर्ण उपन्यासकार बंगला के बंकिमचन्द्र हैं तो दूसरा पक्ष देवकी नन्दन खत्री के उपन्यासों में मिलता है। बंकिम के यहाँ इतिहास और मिथक का रचनात्मक उपयोग है; तो देवकी नन्दन खत्री के उपन्यासों में फैंटेसी का प्रयोग। भारतीय उपन्यास के इतिहास में तीसरी प्रवृत्ति के पहले महत्वपूर्ण उपन्यासकार हैं उड़िया के फकीर मोहन सेनापति। आगे चलकर यही प्रवृत्ति अधिक उन्नत रूप में प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलती है।"[32]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लाला श्रीनिवासदास के 'परीक्षागुरू' 1882 ई0 को अंग्रेजी ढंग का पहला मौलिक उपन्यास कहा है। पहले मौलिक उपन्यास की खोज में पं0 गौरीदत्त के 'देवरानी जेठानी की कहानी' 1870 ई0 तथा पं0 श्रद्धाराम फिल्लौरी के 'भाग्यवती' 1877 ई0 को चर्चा की जाती है। मधुरेश ने पहले उपन्यास की चर्चा पर टिप्पणी करते हुए लिखा है, "परीक्षागुरू को ही हिन्दी उपन्यास का आरम्भ बिन्दु मानकर उसके प्रकाशन के सौ वर्ष बाद 1982 ई0 में हिन्दी उपन्यास के जन्म की शताब्दी तो मनायी ही गयी। हिन्दी के अनेक आलोचकों ने विभिन्न दृष्टियों से इसका मूल्यांकन कर अप्रत्यक्ष रूप से जैसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मान्यता पर ही स्वीकृति की मुहर लगायी है।"[33] इस प्रकार 'परीक्षागुरु' को हिन्दी का पहला उपन्यास मानना चाहिए।

प्रेमचंद पूर्व के उपन्यासों को चार कोटियों में बांटा जाता है

(1) सामाजिक उपन्यास :–

इनकी संख्या इस काल में सबसे अधिक है– बालकृष्ण भट्ट, मेहता लज्जाराम शर्मा, लाला श्री निवासदास व राधाकृष्ण दास इत्यादि प्रमुख रचनाकार हैं।

(2) तिलिस्मी, ऐयारी व जासूसी उपन्यास :–

देवकीनन्दन खत्री तथा गोपालराम गहमरी के उपन्यास इस कोटि में आते हैं।

(3) ऐतिहासिक उपन्यास–

पं0 किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास इसी कोटि में आते हैं।

(4) भाववादी उपन्यास–

इस कोटि में ठाकुर जगमोहन सिंह, ब्रजनन्दन सहाय तथा अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' इत्यादि के उपन्यास आते हैं।

भाषा के महत्व की दृष्टि से देवकीनन्दन खत्री की रचनाएं लोकप्रियता के मामले में सबसे आगे हैं। परीक्षागुरू, भाग्यवती इत्यादि समाजिक उपन्यासों की भाषा हमारी नवजागरण की भाषिक चेतना का पता देती हैं।

'परीक्षागुरु' इस युग का सबसे महत्वपूर्ण उपन्यास है। इसकी भाषा का उदाहरण द्रष्टव्य है–

"हिन्दुस्थानियों को आजकल हर बात मै अंग्रेजों की नकल करने का चस्का पड़ ही रहा है, तो वह भोजन वस्त्रादि आदि निरर्थक बातों की नकल करने के बदले उन्के सच्चे सद्गुणों की नकल क्यों नहीं करते ? देशोपकार, कारीगरी और व्यापारादि में उन्की सी उन्नति क्यों नहीं करते?"[34]

'परीक्षागुरु' में दिल्ली में चलने वाली बाँगरू बोली के शब्द प्रयुक्त हुए हैं। खुद लेखक ने भी इसे भूमिका में स्वीकार किया है। इस्ने, उस्ने, ठैरना जैसे प्रयोग देखे जा सकते हैं। इतना ही नहीं लेखक पूर्ण विराम (।) के बजाय फुल स्टाप (.) का प्रयोग करता है। डॉ0 वीर भारत तलवार ने परीक्षागुरु की भाषा पर टिप्पणी करते हुए लिखा है "श्रीनिवास दास की भाषा हिन्दी प्रदेश के उस नवजागरण का पता देती है, जब हम अपनी अस्मिता को अपनी भाषा में मूर्त कर रहे थे। आज हम उस भाषा से ही दूर नहीं हुए, अपनी अस्मिता से भी दूर हो चुके हैं। अमल, पूँजी, जामिनी, अमीम, पन्ने की खड़, मुख्तारनामा, रूपे की समाई, सीगेबार वाजबी ठैराना आदि शब्द प्रयोग आज की साहित्यिक हिन्दी से उठ गये हैं। . . . . पुनर्जागरण का युग हमारे लिए शोध की चीज हो गयी है ओर इसी के साथ उसकी भाषा भी . . . फिर भी, उस युग के साहित्य को पढ़कर हमारे अन्दर एक जबर्दस्त आवेग उठता है, एक प्रबल प्रेरणा जगती है– क्या हम फिर से ऐसी भाषा लिख सकेंगे?"[35]

महत्व की दृष्टि से इस युग के सबसे बड़े लेखक हैं देवकी नन्दन खत्री। उन्होंने तिलिस्मी–ऐयारी उपन्यास लिखे। आचार्य शुक्ल ने उनके उपन्यासों के महत्त्व पर टिप्पणी करते हुए लिखा है "इन उपन्यासों का लक्ष्य केवल घटनावैचित्र्य रहा, रस संचार, भाव विभूति या चरित्र चित्रण नहीं। ये वास्तव में घटनाप्रधान कथानक या किस्से हैं जिनमें जीवन के विविध पक्षों के चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं है, इससे ये साहित्य की कोटि में नहीं आते। पर हिन्दी साहित्य में बाबू देवकीनन्दन खत्री का स्मरण इस बात के लिए सदा बना रहेगा कि जितने पाठक उन्होंने पैदा किए उतने किसी और ग्रंथकार ने नहीं। चन्द्रकांता पढ़ने के लिए न जाने कितने उर्दू जीवी लोगों ने हिन्दी सीखी।"[36]

देवकीनन्दन खत्री की लोकप्रियता का कारण लेखन में नाटकीयता तथा अद्‌भुत तत्त्व के साथ–साथ उनकी भाषा थी जो बोलचाल की भाषा के एकदम करीब थी। 'चन्द्रकांता' से उदाहरण द्रष्टव्य है :

"यकायक वीरेन्द्र सिंह का नाम सुनते ही चन्द्रकांता का अजब हाल हो गया, भूली हुई बात फिर याद आ गई, कमलमुख मुरझा गया, ऊँची–ऊँची साँसें लेने लगी, आँखों से आंसू टपकने लगे, धीरे–धीरे कहने लगी "न मालूम विधाता ने मेरे भाग्य में क्या लिखा है? न मालूम मैंने उस जन्म में कौन से ऐसे पाप किए हैं जिनके बदले यह दुःख भोगना पड़ा! देखो पिता को क्या धुन समाई है, कहते हैं चन्द्रकांता को कुँवारी ही रक्खूँगा। हाँ। वीरेन्द्र के पिता ने शादी करने के लिए कैसी–कैसी खुशामदें कीं मगर उस दुष्ट क्रूर सिंह के बाप कुपथसिंह ने उनको ऐसा अपने वश में कर रक्खा है कि किसी काम को होने ही नहीं देता और क्रूर मुझसे अपनी ही लसी लगाना चाहता है।"[37]

हिन्दी भाषा का मार्जन व परिष्कार आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के हाथों हुआ। अतः भारतेन्दु युग की भाषा में विविधता का सबसे बड़ा करण उनका परिष्कृत न होना है तथा देशज व स्थानीय प्रयोगों के प्रति लोगों का जागरूक होना है। खत्री जी के लेखन की विषय–वस्तु अवश्य ही हमारी जन–चेतना का प्रकटीकरण नहीं थी लेकिन उनकी भाषा अपने समकालीनों में सबसे आगे थी। वह भाषा हिन्दी क्षेत्र में उभर रही जन चेतना का वाहक बन सकती थी। इसी कारण खत्रीजी की विषय वस्तु पीछे छूट गयी लेकिन उनकी भाषा की विरासत गुलेरी जी व प्रेमचन्द दोनों की भाषा में देखी जा सकती है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'ठेठ हिन्दी का ठाट' और 'अधखिला फूल' लिखा। 'अधखिला फूल' की भूमिका में वे अपनी भाषा के बारे में लिखते हैं– "जिस भाषा में यह भूमिका लिखी गयी है– यह भाषा आजकल हिन्दी लेखकों को अभ्यस्त सी है; क्योंकि अधिकतर ग्रन्थ और समाचारपत्र इसी भाषा में लिखे जाते और प्रकाशित होते हैं।"[38]

'अधखिला फूल' उपन्यास से एक उद्धरण द्रष्ट्व्य है–

"आपने कभी खिला हुआ कमल देखा है? और जो देखा है तो ऐसे बहुत से कमल जिस तालाब में खिले हों– क्या ऐसे किसी तालाब की छटा की सुरत है आपको? आपने कभी हँसते हुए पूरे चाँद की शोभा देखी है? और जो देखी है तो ऐसे सैकड़ों चाँदों से सजे हुए आकाश की छवि को आपने मन में कभी आँका है?"[39]

ब्रजनन्दन सहाय ने 'सौन्दर्योपासक' लिखा। 'सौन्दर्योपासक' से एक उद्धरण द्रष्ट्व्य है–

"प्यारे कृष्ण! आज यह जीवन नवीन उपहार लेकर तुम्हारे सम्मुख उपस्थित हुआ हूँ। सौन्दर्य–निधि। यह 'सौन्दर्योपासक' तुम्हारे ही योग्य है, क्योंकि सौन्दर्य के उपासक और उपास्य दोनों तुम्हीं हो। सौन्दर्य का आदिकारण तथा अवलम्ब तुम्हीं हो। भला कहो तो तुम से बढ़कर सुंदर कौन है? तुम्हारी सुंदरता पर कौन मुग्ध नहीं है? पहले तो इसी सौन्दर्य के नाते यह तुम्हें रुचिकर होना चाहिए। तिस पर तो इसमें कई ऐसी बातें एवं ऐसे पात्र है जिनका तुम्हारे साथ संबंध है। तुम से क्या छिपा है? अन्तर्यामी तो हई हो। तुमसे बढ़कर सत्य तथा मिथ्या का कौन निर्णय करेगा? किंतु बात तो यह ठहरी कि अल्पज्ञ होने के कारण मुझे सब सत्य ही प्रतीत होता है।"[40]

प्रेमचंद पूर्व उपन्यासकारों के पास मुख्यतः दो दृष्टियाँ थी– समाज सुधार और उपदेश की, तथा मनोरंजन की। इन दोनों ही स्थितियों में कथा की रचनात्मकता के प्रति जागरूकता कम थी। समाज सुधार से संबंधित उपन्यासों में लोकशिक्षा का उद्देश्य प्रमुख रहा है। अतः भाषा भी सरल व विवरणात्मक रूप में दिखायी देती है। यही स्थिति तिलिस्मी–ऐयारी और जासूसी उपन्यासों की भाषा के साथ भी थी। भाषा के प्रति जागरूकता अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और ब्रजनन्दन सहाय के लेखन में देखी जा सकती है। शीला कुमारी अग्रवाल ने इस युग में कथा–भाषा के विकास पर फिर टिप्पणी की है– "भाषा के प्रति यह जागरूकता प्रकट करती है कि लेखक मात्र वर्णन या कथानक के आकर्षण के स्थान पर उपन्यास को रचनात्मक साहित्य रूप में ग्रहण करने की ओर प्रवृत्त हुआ है। इसमें भाषा की अभिव्यक्ति पर लेखक

बल दे रहा था, पर भाषा में कलात्मक व्यंजना का विकास अभी नहीं हो पाया था तभी मुहावरों और कहावतों का प्रयोग बहुत अधिक किया गया।"[41]

प्रेमचंद के युग तक आते–आते गद्य–भाषा विकसित हो चुकी थी। इसलिए लेखक भाषा का व्यंजनापूर्ण प्रयोग करने में समर्थ हुए। वस्तु और चरित्र ग्रहण करने का क्षेत्र विस्तृत हो गया। इस प्रकार नगर तथा गाँव के जीवन का चित्रण विभिन्न वर्गों के पात्रों की स्थापना सम्भव हुई। ध्वन्यात्मक वर्णन के स्थान पर वस्तु तथा चरित्र के अनुरूप चित्रण की उद्‌भावना की जाने लगी। इस प्रकार भाषा में रचनात्मकता आ गई। शब्द के व्यक्त अर्थ के साथ उसके व्यंजित अर्थ को भी सम्प्रेषित करना सम्भव हुआ।

भारतेन्दु युग की भाषायी चेतना पर प्रकाश डालते हुए डा0 रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने लिखा है," भारतेन्दु युग की भाषा की प्रकृति लोकोन्मुखी थी वह नित्य व्यवहार के अनुकूल थी और संबद्ध विचार धारा के योग्य। वह एक खुली भाषा थी जिसमें किसी भी स्रोत से आये शब्द की सहज स्वीकृति थी बशर्ते वह बोधगम्य और सम्प्रेषणीय हो .....यह तथ्य कम महत्वपूर्ण नहीं है कि भारतेन्दु युग के सभी साहित्यकार–पत्रकार भी वे अतः उनकी ललक भाषा और विचार के माध्यम से जनसाधरण के हृदय तक पहुंचने की थी।"[42]

TH-10088

0,152,3,M80:g (P) 152P2

संदर्भ–सूची :

1. साहित्य का वैज्ञानिक विवेचन – गणपति चन्द्रगुप्त; पृ0–250

2. प्रेमचन्द के उपन्यासों का शिल्प–विधान – कमल किशोर गोयनका; पृ0–53

3. कथा भाषा का विकास तथा परिवर्तन – शीन0काफ0 निजाम, सामाजिक यथार्थ और कथा–भाषा : सं0–अज्ञेय; पृ0–72 (पर उद्धृत)

4. समकालीन यथार्थ और कथा–भाषा – रामदेव शुक्ल, सामाजिक यथार्थ और कथा–भाषा : सं0–अज्ञेय; पृ0–87

5. भाषा और यथार्थ – राघव प्रकाश, आलोचना : सं0–नामवर सिंह; पृ0–80–81

6. रामचरितमानस (बालकाण्ड) – तुलसीदास; पृ0–29

7. प्रेमचन्द की प्रासंगिकता – अमृत राय; पृ0–39

8. समकालीन यथार्थ और कथा भाषा की समस्याएँ – रामस्वरूप चतुर्वेदी, सामाजिक यथार्थ और कथा भाषा : सं0–अज्ञेय; पृ0–42

9. समकालीन यथार्थ और कथा भाषा की समस्याएँ – रामस्वरूप चतुर्वेदी, सामाजिक यथार्थ और कथा भाषा : सं0–अज्ञेय; पृ0–40

10. समकालीन यथार्थ और कथा भाषा की समस्याएँ – रामस्वरूप चतुर्वेदी, सामाजिक यथार्थ और कथा भाषा : सं0–अज्ञेय; पृ0–40

11. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका – मैनेजर पांडेय; पृ0–225

12. सर्जना और संदर्भ – अज्ञेय; पृ0–347

13. सामाजिक यथार्थ और कथा भाषा – अज्ञेय; भूमिका

14. Language of fiction - David Lodge; p. 12. Prose uses only the denotations of words; poetry exploits their connotations as well. Prose is essentially logical : poetry creates non-logical patterns by means of metre, rhythm, alliteration, etc. Prose is essentially progressive; poetry 'stand still'.

15. Language of fiction - David Lodge; p. 16 (Quoted). The means that in the novel the emotional associations attach not to words but to the moving current of mock reality symbolised by the words. This is why rythm, 'Preciousness', and style are alien to the novel; why the novel translates so well; why novels are not composed of words. They are composed of scenes, actions, stuff, people, just as plays are.

16. Language of fiction - David Lodge; p. 17. We are usually less conscious of a novelist's use of language than of a poet's. We do tend to experience and recall a novel, not as a system of words, images, symbols, and rounds, but as a system of actions, situations, setting and we continue to find the terms 'Plot' and 'Character' indispensable.

17. संवत्सर – अज्ञेय; पृ0–135

18. संवत्सर – अज्ञेय; पृ0–130

19. यथार्थ की सृष्टि और कथा भाषा – नन्द किशोर आचार्य : सामाजिक यथार्थ और कथा भाषा – अज्ञेय; पृ0–107–108

20. आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में वस्तु–विन्यास – सरोजनी त्रिपाठी; पृ0–18 (पर उद्धृत)

21. साहित्य सहचर – आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी; पृ0–90

22. साहित्य सहचर – आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी; पृ0–90–91

23. उपन्यास और लोक जीवन – रैल्फ फॉक्स (अनु0–रामविलास शर्मा); पृ0–53

24. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (सं0–निर्मला जैन), द्वादश भाग; पृ0–14

25. आधुनिक काल : पूर्व पीठिका – बच्चन सिंह : हिन्दी साहित्य का इतिहास (सं0–नगेन्द्र); पृ0–427

26. सामाजिक धार्मिक सुधार और राष्ट्रीय जागरण – क0न0 पनिकर : भारत का स्वतंत्रता संघर्ष; पृ0–47

27. सामाजिक धार्मिक सुधार और राष्ट्रीय जागरण – क0न0 पनिकर : भारत का स्वतंत्रता संघर्ष; पृ0–53

28. भाग्यवती – श्रद्धाराम फिल्लौरी (सं0–हरमेन्द्र सिंह बेदी), भूमिका

29. भाग्यवती – श्रद्धाराम फिल्लौरी (सं0–हरमेन्द्र सिंह बेदी), भूमिका

30. परीक्षा गुरू – लाला श्रीनिवास दास, भूमिका; पृ0–5

31. Reality & Realism - Meenakshi Mukherji; p.-16. _ _ _ at least three dominant stands can be sorted out from the tangled skein. The first strand consists of the novels of purpose which utilized this new literary from for social reform and missionary enterprise. The second is an inclusive category where the fiction merge, the common denominator being the creation of an ethos remote in time. The third strand attempted to render contemporary Indian society realistically in fiction.

32. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका – मैनेजर पांडेय; पृ0–284

33. हिन्दी उपन्यास का विकास – मधुरेश; पृ0–13

34. परीक्षा गुरू – लाला श्रीनिवास दास, भूमिका; पृ0–166

35. राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य – वीर भारत तलवार, पृ0–17

36. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ0–272

37. चन्द्रकांता – देवकीनंदन खत्री; पृ0–6

38. अधखिला फूल – अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'; भूमिका

39. हिन्दी उपन्यासों में कल्पना के बदलते हुए प्रतिरूप – शीला कुमारी अग्रवाल; पृ0–188 (पर उद्धृत)

40. सौंदर्योपासक – बृजनंदन सहाय, (सं0–रमेश कुंतल मेघ और हरमेन्द्र सिंह बेदी), पृ0–17

41. हिन्दी उपन्यासों में कल्पना के बदलते हुए प्रतिरूप – शीला कुमारी अग्रवाल; पृ0–188

42. भाषायी अस्मिता और हिन्दी – रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव; पृ0–155

द्वितीय अध्याय

प्रेमचंद की कथा-भाषा की निर्मिति और 'सेवासदन'

प्रेमचंद ने हिन्दी कथा साहित्य में युगान्तर उपस्थित करने का काम किया। इस कार्य में उनकी भाषा की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रेमचंद सन् 1915 में उर्दू से हिन्दी में आये थे। प्रेमचंद की भाषा पर चर्चा करने से पूर्व उनके उर्दू से हिन्दी आगमन की चर्चा, उनकी भाषा का वैशिष्ट्य तथा उस समय के सामाजिक–सांस्कृतिक परिदृश्य का विश्लेषण आवश्यक है। 1900 ई0 में फारसी लिपि के बजाय देवनागरी को उ0प्र0 में सरकारी कामकाज की लिपि बनाये जाने के कारण भाषा का विवाद साम्प्रदायिक आधार ले रहा था।

प्रेमचंद के भाषा सम्बन्धी दृष्टिकोण, हिन्दी–उर्दू विवाद पर उनके रुख तथा हिन्दुस्तानी की कल्पना के विश्लेषण से पहले उस युग की सामाजिक–सांस्कृतिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का विश्लेषण जरूरी है। इसी प्रसंग में उनके पूर्ववर्ती गद्य लेखकों तथा कथा लेखकों की भाषा संबंधी चेतना और उसमें प्रेमचंद की उपस्थिति की जाँच जरूरी है। यह विश्लेषण ही प्रेमचंद की भाषा सम्बन्धी चेतना पर प्रकाश डाल सकता है जिसका प्रतिफलन उनकी रचनाओं में हुआ है।

उस समय की राजनीतिक परिस्थिति अर्थात् गांधीजी द्वारा नेतृत्व ग्रहण करने से ठीक पहले की स्थिति, कांग्रेस के लिए निष्क्रियता का समय था। इस समय थियोसोफिकल सोसाइटी की आयरिश महिला एनीबेसेन्ट ने तिलक के साथ मिलकर कांग्रेस के बरक्स होमरुल लीग का गठन किया था। इसके गठन का उद्देश्य भारतीयों को स्वशासन का अधिकार दिलाना था। 'सेवासदन' का एक पात्र प्रो0 रमेशदत्त अपने थियोसोफिस्ट होने की बात स्वीकार करता है। इस समय तक वे तीन घटनायें घट चुकी थीं, जिन्होंने आगे चलकर स्वतंत्रता आंदोलन को बहुत हद तक प्रभावित किया। पहली घटना है, 1905 का बंग–भंग। इसके विरोध में पहला व्यापक राष्ट्रीय जन आन्दोलन हुआ। बंग–भंग के विरोध का सबसे सशक्त प्रतीक थी बांग्ला भाषा तथा उस पर आधारित बांग्ला जातीयता का गठन।.... राष्ट्रीयता के गठन में भाषा के महत्त्व से पहली बार देश परिचित हुआ। लेकिन खुद 1907 में काँग्रेस में

फूट पड़ गयी जबकि 1906 में ढाका में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई और लीग ने मुसलमानों के लिये पृथक निर्वाचन की माँग की। 1909ई0 में मार्ले–मिन्टो सुधार के नाम पर स्वीकार कर लिया गया। इसी क्रम में 1915 में हिन्दू महासभा की भी स्थापना हुई। मदन मोहन मालवीय ने प्रताप नारायण मिश्र के 'हिन्दी–हिन्दू–हिन्दुस्तान' के नारे को दोहराया ।

काँग्रेस की स्थिति उस समय तक एक प्रस्ताव पास करने वाले संगठन की थी न कि एक आंदोलन करने वाले संगठन की। राजनीतिक दृष्टि से यह समय कांग्रेस की निष्क्रियता का दौर था तो साम्प्रदायिकता के उभार का भी दौर था। 'सेवासदन' के एक पात्र तेग अली के कथन से इस स्थिति की सूचना मिलती है "आजकल पोलिटिकल मफाद का जोर है। हक और इन्साफ का नाम न लीजिये। अगर आप मुदर्रिस हैं, तो हिन्दू लड़कों को फेल कीजिये। तहसीलदार हैं तो हिन्दुओं पर टैक्स लगाइये, मजिस्ट्रेट हैं तो हिन्दुओं को सजायें दीजिये ।"[1] एक अन्य स्थान पर तेगअली कहता है "वहाँ इस वक्त उर्दू–हिन्दी का झगड़ा, गोकशी का मसला, जुदागाना इन्तखाब सूद का मुआबिजा, कानून इन सबों में मजहबी तास्सुब को भड़काने में मदद ली जा रही है।"[2] सामाजिक महत्त्व की चीजों को भी साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से देखने के रिवाज का भी पता चलता है।

उस समय तक हिन्दी क्षेत्र स्वतन्त्रता आन्दोलन की राजनीति का क्षेत्र नहीं बन पाया था। अतः सामाजिक–सांस्कृतिक समस्याओं के प्रति समाज का रूख भी सामाजिक ही था। स्त्रियों तथा दलितों की समस्याएँ केवल सामाजिक कुरीतियाँ थीं। इसलिए स्त्रियों व दलितों की समस्याएँ समाज–सुधारकों की चिन्ता का विषय थीं। राष्ट्रीय राजनीति में ये प्रश्न उस समय तक हाशिए पर ही थे। डा0 अम्बेडकर के हस्तक्षेप के साथ ही दलितों का प्रश्न सामाजिक के साथ–साथ राजनीतिक भी बन गया । लेकिन स्त्री प्रश्न स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौर में राजनीतिक नहीं बन पाया। यद्यपि स्वतन्त्रता आन्दोलन में स्त्रियों की भूमिका को स्वीकार किया गया। गांधी जी

द्वारा कांग्रेस का नेतृत्व ग्रहण करने के साथ ही राष्ट्रीय आन्दोलन का विस्तार हिन्दी क्षेत्र में हुआ तथा कांग्रेस एक आन्दोलन करने वाला संगठन बन गयी।

'सेवासदन' में सुमन की समस्या 'स्त्री–समस्या' है, लेकिन लेखक ने स्त्री समस्या को स्त्री की दृष्टि से नहीं बल्कि पुरूष की निगाह से देखा है। उस समय खुद हिन्दी प्रदेश में स्त्रियों द्वारा संगठित रूप से स्त्री–विमर्श की शुरूआत हो चुकी थी। 1909ई0 में इलाहाबाद में रामेश्वरी नेहरू ने 'स्त्री–दर्पण' का पत्रिका आरंभ की। उस पत्रिका में उमा नेहरू का लेखन उस दौर के महिला लेखन में सबसे सशक्त तथा अपने समय के लिहाज से काफी आगे था। लेकिन प्रेमचंद पर उसका कोई प्रभाव नहीं दिखायी देता है। प्रेमचंद के लिए स्त्री शिक्षा का उद्देश्य 'पढिए 'गीता'–बनिए 'सीता' का था। स्त्री शिक्षा का यह आदर्श उस युग की ऐतिहासिक विशेषता थी। इसके अन्तर्गत पुरूष सत्तात्मक व्यवस्था को बनाए रखते हुए उसके भीतर स्त्रियों को कुछ सहुलियतें देने की व्यवस्था थी इसके मूल में शिक्षित पुरूषों की अपनी जरूरतें थी। इन संदर्भ में डा0 वीर भारत तलवार ने ठीक टिप्पणी की है" औपनिवेशिक शासन के अन्तर्गत जब पुरूष स्कूल कालेजों से अँग्रेजी शिक्षा पाकर निकलने लगे तो उनकी स्त्रियों का अनपढ़ व जाहिल रहना उन्हें खटकने लगा। नये शासन के नियम–कायदों और सभ्यता संस्कृति के असर से उनकी अपनी जीवन शैली बदल गयी थी और उन्होंने शिष्टाचार के नए तौर–तरीके अपना लिये थे। अब उन्हें अपने घरों मे स्त्रियों के बर्ताव और काम करने के पुराने ढंग, फूहड़ और असुविधाजनक लगने लगे थे। उनके सामने अँग्रेज परिवारों की स्त्रियाँ थी जिनके कपड़ों की सफाई, व्यवहारकुशलता, बात–चीत का ढंग, शिष्टाचार और कार्यनिपुणता उन्हें अपनी घरेलू स्त्रियों के लिए आदर्श (मॉडल) लगता था। लिहाजा ये समाज सुधारक समाज के पितृसत्तात्मक ढाँचे में कोई सुधार किए बगैर औरतों पर अपना परम्परागत नियन्त्रण जरा भी ढीला किये बिना अपनी स्त्रियों को एक क्षेत्र में–घरों के अंदर 'नए आदर्श रूप' में ढ़ालने की कोशिश करने लगे ।"[3] प्रेमचंद का स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण ऐतिहासिक युग की इसी विशिष्टता से युक्त था। सुमन के पतन का

कारण खुद लेखक के हिसाब से यह है कि उसने गृहिणी बनने की शिक्षा नहीं पायी थी।

प्रेमचंद जिस समय उर्दू से हिन्दी में आये, वह समय हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'द्विवेदी–युग' के नाम से जाना जाता है। इस युग की भाषा तथा साहित्य का महत्त्व इसके सामाजिक–सांस्कृतिक दृष्टिकोण के कारण महत्त्वपूर्ण है। भाषा के स्तर पर यह समय खड़ी बोली हिन्दी के मार्जन और परिष्कार का समय है। इस समय पत्र–पत्रिकाओं की बाढ़ सी आ गयी, जो कि हिन्दी के बढ़ते हुए पाठक वर्ग तथा बाजार की सूचना देती है। हिन्दी के बाजार के बढ़ने का कारण सन् 1900ई0 में हिन्दी को उत्तर प्रदेश की राज भाषा बनाया जाना था। इस बढ़ते हुए बाजार ने ही प्रेमचंद को हिन्दी की ओर आकर्षित किया। 22 मई सन 1914 ई को दयानारायण निगम को पत्र में उन्होंने लिखा है "उर्दू की हवा आजकल बिगड़ी हुई है अखबारनवीसी बहुत मुश्किल हो गयी है उनमें से किसी को फरोग नहीं है। सब कुत्ते की जिन्दगी जीते हैं।"[4] 1 सितम्बर 1915 को उन्होंने फिर दयानारायण निगम को लिखा "हिन्दी के तर्जुमे के लिये कई जगह से इसरार हुआ है और मैं खुद ही इस काम को हाथ में लूँगा । अब हिन्दी लिखने की मश्क कर रहा हूँ, उर्दू में अब गुजर नहीं।"[5] 4 सितम्बर 1914 के पत्र में लिखते हैं "प्रताप के इसरार से मजबूर होकर एक मुख्तसर सा किस्सा हिन्दी में उसके विजयदशमी नम्बर के लिये लिखा है, हिन्दी लिखनी आती नहीं है मगर कुछ कलम तोड़–मोड़ दिया है।"[6]

इन पत्रों से यह पता चलता है कि प्रेमचंद हिन्दी के बढ़े हुए बाजार के कारण इसमें आये।

भले ही समाज सुधार की शुरूआत आधुनिक भारत में राजाराममोहन राय ने की मगर हिन्दी क्षेत्र में उसका प्रभाव नहीं पड़ा। हिन्दी क्षेत्र में समाज सुधार के प्रसंग में आर्य–समाज का हस्तक्षेप महत्त्वपूर्ण है। आर्य–समाज ने बाल–विवाह, अनमेल–विवाह, दहेज–प्रथा, अशिक्षा तथा छुआछूत के विरुद्ध, विधवा–विवाह तथा

स्त्री–शिक्षा तथा गोरक्षा के पक्ष में आन्दोलन चलाया । प्रेमचंद खुद आर्य–समाज से प्रभावित थे। 11 अप्रैल 1936 को लाहौर में आर्य–भाषा सम्मेलन में भाषण देते हुए उन्होंने आर्य–समाज की भूमिका पर प्रकाश डाला "मैं तो आर्य–समाज को जितनी धार्मिक संस्था समझता हूँ उतनी तहजीवी (सांस्कृतिक) संस्था भी समझता हूँ। आर्य समाज ने साबित कर दिया है कि सेवा ही किसी धर्म के सजीव होने का लक्षण है। . . . हरिजनों के उद्धार में सबसे पहले आर्य–समाज ने कदम उठाया । लड़कियों की शिक्षा की जरूरत को सबसे पहले उसने समझा । वर्ण–व्यवस्था को जन्मगत न मानकर कर्मगत सिद्ध करने का सेहरा उसके सिर है।"[7] आगे उन्होंने आर्य–समाज की भाषा–नीति पर प्रकाश डाला है। "समाज ने हमारी भाषा के साथ जो उपकार किया है उसका सबसे उज्ज्वल प्रमाण यह है कि स्वामी दयानन्द ने इसी भाषा में सत्यार्थ प्रकाश लिखा और उस वक्त लिखा जिस वक्त उसकी इतनी चर्चा न थी।"[8] भारतेन्दु युग से खड़ी बोली की जो विरासत उन्हें मिली थी उसमें बोलचाल के तद्भव, देशज व स्थानीय शब्दों की अधिकता थी। इसी कारण उस युग की भाषा कृत्रिम नहीं लगती। लेकिन वह परम्परा द्विवेदीयुग में छोड़ दी गयी। संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का जोर इस युग बढ़ा।

द्विवेदी युग की चेतना पुनरूत्थान वादी है। भारतेन्दु युग की देशभक्ति अब जातीय चेतना में बदल गई थी। मर्यादावाद तथा आदर्शवाद की अवधारणा के बीच समाज सुधार तथा राष्ट्र निर्माण का विजन निर्मित हुआ । आदर्श चरित्रों का गठन, व्यक्ति–निर्माण द्वारा राष्ट्र–निर्माण की योजना की ओर संकेत करता है। लेकिन अतीत के प्रति यह गौरवपूर्ण दृष्टि रोमानी दृष्टिकोण से प्रभावित थी। भावुकता, भव्यता , तथा उदात्त तत्सम संस्कृतनिष्ठ भाषा–शैली इस समय की साहित्यिक विशेषताएँ थीं। इस युग के प्रमुख गद्य लेखकों में महावीर प्रसाद द्विवेदी, सरदार पूर्ण सिंह, चन्दधर शर्मा 'गुलेरी', आचार्य रामचन्द्रशुक्ल तथा प्रसाद इत्यादि प्रमुख हैं। द्विवेदी जी की भाषा का एक उदाहरण द्रष्ट्व्य है "अंधकार गया, रात गयी, प्रातःकालीन संध्या भी गयी। विपक्षी दल के एकदम पैर ही उखड़ गये। तब रास्ता

साफ देख वासर विधाता भगवान भास्कर ने निकल आने की तैयारी की । कुलिश पाणि इन्द्र की पूर्व दिशा में नये सोने के समान उनकी पीली–पीली किरणों का समूह छा गया ।"[9]

द्विवेदी युग की भाषा का उदाहरण उस युग की उस भाषिक चेतना का पता देती है, जिसमें शुद्ध तथा संस्कृतनिष्ठ हिन्दी लिखने का जोर चल रहा था। इस युग के एक महत्वपूर्ण लेखक हैं चंद्रधर शर्मा गुलेरी। इन्होंने निबंध तथा कहानियाँ लिखीं। इनकी भाषा में बोलचाल का पुट है। इनकी भाषा में संस्कृत, फारसी के साथ–साथ स्थानीय तथा देशज शब्द भी सहजता से प्रयुक्त हुए हैं। इनकी भाषा में देवकीनन्दन खत्री की भाषा की परम्परा का विकास दिखायी देता है। इनकी प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' की भाषा का उदाहरण द्रष्ट्व्य है–

"चार दिन तक पलक नहीं झँपी। बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ा कर मार्च का हुक्म मिल जाय। फिर सात जरमनों को अकेला मारकर न लौटूँ तो मुझे दरबार साहब को देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के कलों के घोड़े – संगीन देखते ही मुँह फाड़ देते हैं और पैर पकड़ने लगते हैं यो अँधेरे में तीस–तीस मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया था– चार मील तक एक जरमन नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल साहब ने हट जाने का हुक्म दिया, नहीं तो–।"[10]

'उसने कहा था' से पहले ही हिन्दी कहानी लेखन की शुरूआत सन 1900 ई0 में सरस्वती पत्रिका के प्रकाशन के साथ हुई । इसके पहले प्रकाशन वर्ष में ही किशोरी लाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' कहानी प्रकाशित हुई। प्रायः विद्वान इसे ही हिन्दी की पहली कहानी मानते हैं। इसके अलावा मास्टर भगवानदास की 'प्लेग की चुड़ैल' आचार्य शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' बंगमहिला की 'दुलाई वाली' तथा प्रसाद की 'ग्राम' कहानी आती है।

प्रसाद इस युग के सबसे महत्वपूर्ण लेखक हैं। उनका लेखन उस युग की सांस्कृतिक चेतना के अनुरूप है। उनकी भाषा में काव्यमयता, भावप्रवणता तथा तत्सम शब्द युक्त संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के गुण हैं। भाषा प्रायः अलंकारिक है। यह विशेषता ऐतिहासिक–पौराणिक कहानियों में रोमान्स का तत्व पैदा करने के लिये जरूरी थी। लेकिन उनकी भाषा सम्बंधी यह विशेषता ग्रामीण जीवन से सम्बंधित चित्रण में भी दिखाई देती है। कहने की जरूरत नहीं कि इस चित्रण से पाठक के मन में आधुनिक युग के भारत के गाँव का बिम्ब नहीं उभरता । उदाहरण द्रष्ट्व्य है–"श्रावण मास की संध्या भी कैसी मनोहारिणी होती है। मेघमाला विभूषित गगन की छाया सघन रसाल–कानन में पड़ रही है। अंधियारी धीरे –धीरे अपना अधिकार पूर्व गगन में जमाती हुई सुशासनकारिणी महारानी के समान विहंग प्रजागण को सुख निकेतन में शयन करने की आज्ञा दे रही है। आकाश रूपी शासन पत्र पर प्रकृति के हस्ताक्षर के समान बिजली की रेखा दिखायी पड़ती है। ..... ग्राम्य स्टेशन पर कहीं एक–दो दीपालोक दिखायी पड़ता है। पवन हरे–हरे निकुंजो में से भ्रमण करता हुआ झिल्ली के झनकार के साथ भरी हुई झीलों में लहरों के साथ खेल रहा है। बूदियाँ धीरे–धीरे गिर रही हैं जो जूही की कलियों को आर्द्र कर पवन को भी शीतल कर रही हैं।"[11]

यह भाषा ऐतिहासिक पौराणिक लेखन में रोमान्स का तत्व पैदा करने का काम तो कर सकती है मगर वह जनता की भाषा नहीं हो सकती। भाषा में यथार्थवाद का तत्व यहाँ नहीं दिखायी देता है। यह भाषा न तो आधुनिक युग के साहित्य के पात्रों की भाषा हो सकती थी और न ही उस युग के पाठकों की भाषा। वह युग हिन्दी–उर्दू के तीखे विवाद का दौर था जब भाषा का प्रश्न राष्ट्रीय प्रश्न भी था, साथ में साम्प्रदायिक दृष्टिकोण का भी शिकार था। उस समय देश को ऐसी भाषा की आवश्यकता थी जो उसके राष्ट्रीय आंदोलन की वाहक बन सके। राष्ट्रीय आन्दोलन की वाहक बनने वाली भाषा का पहला गुण तो उसका आम फहम होना है, क्योंकि भयानक गरीबी, अशिक्षा तथा सामाजिक रूप से पिछड़े समाज का चित्रण संस्कृतनिष्ठ तत्सम शब्दावली में नहीं हो सकता था। बोलचाल की भाषा ही वह रास्ता हो

सकती थी जिसको पकड़कर लेखक जनता की कहानी, जनता की जुबानी कह सकता था। देवकीनन्दन खत्री की लोकप्रियता का कारण नाटकीयता के अलावा उनकी भाषा का स्वरूप था। देवकीनन्दन खत्री ने अपनी भाषा का स्वरूप बोलचाल का रखा है। गुलेरी जी उसी परम्परा में आते हैं। प्रेमचंद उर्दू से हिन्दी में आये थे, इसलिए संस्कृतनिष्ठ हिन्दी उनके लिए बेकार थी, दूसरे भाषा का प्रश्न उनके लिए साहित्य लेखन के माध्यम का प्रश्न नहीं, बल्कि राष्ट्रीय अस्मिता से जुड़ा हुआ था। इसीलिए वे कहते हैं, "भारत वर्ष की राष्ट्रीय भाषा न तो उर्दू ही है और न हिन्दी, बल्कि हिन्दुस्तानी है जो सारे हिन्दुस्तान में समझी और उसके बहुत बड़े भाग में बोली जाती है।"[12] राष्ट्रभाषा के स्रोत तथा स्वरूप पर उनका मत था, "राष्ट्र भाषा केवल रईसों और अमीरों की भाषा नहीं हो सकती है। उसे किसानों और मजदूरों की भाषा बनना पड़ेगा. . . . राष्ट्रभाषा तो बाजारों और गलियों में बनती है।"[13] भाषा के उपर्युक्त स्वरूप की मांग का कारण उन्हीं के शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है, "हमारा आदर्श तो यह होना चाहिए कि हमारी भाषा अधिक से अधिक आदमी समझ सके। अगर इस आदर्श को हम अपने सामने रखें तो लिखते समय शब्द–चातुरी के मोह में न पड़ेंगे।. . . वही शब्द सरल है, जो व्यवहार में आ रहा है, इसमें कोई बहस नहीं कि वह तुर्की है या अरबी या पुर्तगाली।"[14]

हिन्दी–उर्दू विवाद तथा भाषा का बोलचाल का स्वरूप रखने की संकल्पना 'हिन्दुस्तानी' के रूप में सामने आती है। वे कहते हैं, "हमारे मुल्की फैलाव के साथ हमें एक ऐसी भाषा की जरूरत पड़ गयी है जो सारे हिन्दुस्तान में समझी और बोली जाए, जिसे हम हिन्दी या गुजराती, या मराठी या उर्दू न कहकर हिन्दुस्तानी भाषा कह सकें।"[15] वस्तुतः यह भाषा विवाद के दौर में लिया गया बीच का रास्ता था। लेकिन प्रेमचंद इस बारे में एकदम स्पष्ट थे कि शब्द चाहे किसी भाषा के हों लेकिन लिपि 'देवनागरी' ही होगी। भाषा का विवाद दरअसल लिपि का विवाद था इसे प्रेमचंद भी समझते थे इसलिए शब्दों के प्रयोग की छूट लेते हुए भी लिपि के प्रश्न पर वे एकदम साफ थे। नागरी लिपि के संबंध में उनका कहना है–"हमें अपनी भाषा और

राष्ट्र लिपि का प्रचार मित्र भाव से करना है, इसका पहला कदम यह है कि हम नागरी लिपि का संगठन करें। बंगला, गुजराती, तमिल आदि यदि नागरी लिपि स्वीकार कर लें तो राष्ट्रीय लिपि का प्रश्न बहुत कुछ हल हो जायेगा और कुछ नहीं तो केवल संख्या ही नागरी लिपि को प्रधानता दिला देगी।"[16]

प्रेमचंद भले ही भाषा के सामान्य रूप के प्रयोग की बात करते हों, बोलचाल की भाषा लिखने की बात करते हों, लेकिन 'सेवासदन' में भाषा का यह स्वरूप नहीं दिखायी देता है। 'सेवासदन' में संस्कृतनिष्ठ हिन्दी तथा फारसी–अरबी बहुल उर्दू की प्रधानता है। उसमें भी हिन्दू पात्र हिन्दी तथा मुस्लिम पात्र उर्दू बोलते हैं, वह भी ऐसी उर्दू कि बिना शब्दकोश के पाठक समझ ही न सकें। इस सन्दर्भ में डॉ0 ओमप्रकाश सिंह ने ठीक टिप्पणी की है– "इनकी प्रारम्भिक रचनाओं जैसे 'सेवासदन' और कुछ कहानियों पर उर्दू का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगत होता है। 'सेवासदन' उपन्यास में प्रेमचंद ने मुसलमान पात्रों के द्वारा जिस भाषा का व्यवहार कराया है, वह किसी भी प्रकार से आमफहम नहीं हो सकती। जिस समय प्रेमचंद उर्दू से हिन्दी में आये उस समय कहीं न कहीं उनके मस्तिष्क में यह जरूर था कि उर्दू मुसलमानों की भाषा है, इसीलिए हिन्दू मुसलमान पात्रों की भाषा में स्पष्ट अंतर दिखायी देता है।"[17]

'सेवासदन' की भाषा पर कमल किशोर गोयनका ने टिप्पणी की है– "उर्दू से हिन्दी में आने वाले उपन्यासकार का अरबी–फारसी के पूर्वाग्रहों से युक्त होना तथा हिन्दी में प्रवेश के उत्साह में भाषा के संस्कृतीकरण की वरदान की स्थिति को त्याग देना, प्रेमचंद के भाषा–शैलीकार की विशेष उपलब्धियाँ हैं। प्रेमचंद की इस भाषा नीति से, जिसका जन्म 'सेवासदन' से होता है, हिन्दी उर्दू भाषाओं का परिमार्जित सम्मिश्रण हुआ है और एक ऐसी भाषा का रूप निर्मित हुआ जिसे बाद में 'हिन्दुस्तानी' की संज्ञा दी गयी। हिन्दी उर्दू के इस मिश्रित रूप में भी भाषा के कई स्तर मिलते हैं– अरबी–फारसी बहुल अंश, संस्कृत–बहुल अंश, अरबी–फारसी व संस्कृत भाषाओं का समतुल्य मिश्रण तथा दोनों ही प्रकार की भाषाओं के तत्सम शब्दों से विहीन साधारण बोलचाल की भाषा के अंश, आदि।"[18]

अलग–अलग वर्गों के पात्रों द्वारा अलग–अलग भाषा का प्रयोग पं0 किशोरीलाल गोस्वामी के यहां भी देखा जा सकता है। श्रद्धाराम फिल्लौरी के 'भाग्यवती' में भी इस प्रकार की चेतना देखी जा सकती है। इस उपन्यास के पात्र अपनी क्षेत्रीय तथा वर्गीय भाषाएँ बोलते हैं यथा पंजाब के पात्र पंजाबी, पूरब के कहारों की भाषा में पूरबीपन देखा जा सकता है। जबकि पं0 उमादत्त नामक पात्र संस्कृतनिष्ठ तत्समबहुला भाषा का प्रयोग करता है।

'सेवासदन' में भाषा का कोई स्पष्ट वर्गीय तथा सामाजिक आधार नहीं दिखायी देता, लेकिन भाषा का साम्प्रदायिक आधार साफ देखा जा सकता है। मुस्लिम पात्रों की उर्दू का एक उदाहरण द्रष्ट्व्य है– शाकिरबेग नामक एक पात्र कहता है, "भाई साहब यह तान तंजका मौका नहीं है। हम अपने घर में बैठे हुए एक व्यक्ति के बारे में दोस्ताना मशविरा कर रहे हैं। जबाने तेज मसलत के हक में जहरे कातिल हैं। मैं शाहिदान तन्नाज को निजाम तमद्दुन में बिल्कुल बेकार या मायएशर नहीं समझता।"[19]

'सेवासदन' प्रेमचंद्र का हिन्दी में प्रकाशित पहला उपन्यास है। मूलरूप से 'बाजारे हुस्न' नाम से उर्दू में लिखा गया था। । "सेवासदन" मूल रूप से भले ही उर्द् में लिखा गया था लेकिन यह उर्दू से पहले हिन्दी में 1918 ई में प्रकाशित हुआ। उर्दू में इसका प्रकाशन 1921–22 ई0 में हुआ।

'सेवासदन' अनमेल विवाह के बंधन में बँधी एक स्त्री 'सुमन' पर केन्द्रित है। कथानक में सुमन के विवाह बंधन में बँधने, उसके वेश्या बनने तथा वेश्या जीवन से मुक्त होकर 'सेवासदन' में जाने तक वर्णन है। सुमन का वेश्या बनना इस उपन्यास में एक विभाजक रेखा की तरह है। यह विभाजक रेखा कथानक का सुविधाजनक बंटवारा नहीं है, बल्कि कहीं गहरे अर्थों में उपन्यास की संरचना में निहित है। पहले भाग में सुमन के वेश्या बनने की कथा को रखा जा सकता है। दूसरे भाग में उसके वेश्या जीवन से मुक्त होकर 'सेवासदन' में जाने तक की कथा है। डॉ0 रामस्वरूप

चतुर्वेदी ने उपन्यास में यथार्थ के विश्लेषण की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए लिखा है "यथार्थ को बाहर रखकर वर्णित और विश्लेषित करना शास्त्रों और विज्ञानों की प्रक्रिया है उसे अंदर अनुभव के स्तर पर उतारने में साहित्य का वैशिष्ट्य है।"[20] 'सेवासदन' में यथार्थ के प्रस्तुतिकरण की प्रक्रिया में डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी के वक्तव्य को लागू किया जा सकता है। सुमन के वेश्या बनने तक का यथार्थ अनुभव के स्तर पर उतर का रचा गया है। इसी कारण यह हिस्सा प्रभावपूर्ण बन पड़ा है। दूसरे भाग में सुमन की मुक्ति की कथा है। इस भाग में यथार्थ को बाहर से वर्णित व विश्लेषित किया गया है। यही कारण है कि उपन्यास का उत्तरार्ध उस मजबूती के साथ चित्रित नहीं हो पाया है जिस मजबूती से पूर्वार्ध। इस प्रकार उपन्यास का कला रूप छिन्न–भिन्न हो गया है।

वेश्या बनने से पहले सुमन समाज को भीतर से देखती व प्रश्न करती है। इस प्रक्रिया में वह क्रमशः समाज के उच्च वर्ग के लोगों, धर्मिक सत्ता प्रतिष्ठान से जुड़े लोगों और समाज के कथित सज्जन एवं भद्र पुरूषों की वास्तविकता को देख पाती है। सबके सब उसे 'भोली' वेश्या के कृपाकांक्षी के रूप में दिखायी देते हैं। सुमन के वेश्या बनने का कारण वे परिस्थितियाँ हैं, जिनमें स्त्री विवाहित होकर पराधीन रहती है और वेश्या होकर स्वतंत्र हो जाती है; न कि सुमन के चरित्र की कमजोरियाँ जैसा कि बाद में प्रेमचंद साबित करते है। प्रेमचंद खुद इसे स्वीकार करते है, "सुमन बहुत देर तक वहाँ कार्य से कारण का अनुसंधान करती रही । अंत में वह इस परिणाम पर पहुँची कि वह (भोली, वेश्या) स्वाधीन है, मेरे पैरों में बेड़ियाँ है।"[21]

समाज की आलोचना का यह तेवर सुमन के वेश्या बनने के बाद समाप्त हो जाता है। और सुमन के वेश्या बनने का कारण परिस्थितियों के बजाय चारित्रिक कमजोरियों को मान लिया जाता है। खुद सुमन के शब्दों में, "मेरी विलास तृष्णा ने मुझे कही का नहीं रखा ।"[22] सुमन के पति गजाधर पांडे और अबके महात्मा गजानन्द के शब्दों में, "मेरी असज्जनता और निर्दयता, सुमन की चंचलता और विलास लालसा दोनों ने मिलकर हम दोनों का सर्वनाश कर दिया।"[23]

सुमन का वेश्या होना उस समाज की सबसे बड़ी व कड़ी आलोचना थी। सुमन से जुड़े सारे लोग अपराध बोध से ग्रस्त हो जाते हैं। सुमन की मुक्ति का प्रश्न एक स्त्री की मुक्ति का प्रश्न नहीं रह जाता बल्कि एक हिन्दू ब्राह्मण स्त्री की मुक्ति का प्रश्न बन जाता है। इसीलिये उपन्यास उन स्थितियों में संशोधन की माँग नहीं करता जिनके कारण मर्दों की दुनियाँ में औरत के विवाहित होने का अर्थ पराधीन होना होता है। वेश्याओं को दालमण्डी से हटाने कारण के रूप में विठलदास कहता है "हम तो केवल उन दशाओं का संशोधन करना चाहते हैं जो दुर्बल स्वभाव के अनुकूल है और कुछ नहीं चाहते ।"[24] इस प्रकार हम देखते हैं कि 'सेवासदन' में स्त्री समस्या को पुरूषों की दृष्टि से देखा गया है। वेश्यायें तथा दालमण्डी पुरूष सत्तात्मक व्यवस्था की जरूरत थीं उस जरूरत को खत्म करने के बजाय उपन्यासकार वेश्याओं को दालमण्डी से हटाने का समाधन प्रस्तुत करता है। प्रेमचंद्र के लिये स्त्री–शिक्षा का उद्देश्य आदर्श गृहिणी तैयार करना है। 'सेवासदन' में वे कहते हैं "उसने (सुमन ने) गृहिणी बनने की नहीं, इन्द्रियों के आनंद भोग की शिक्षा पायी थी।"[25]

बतौर उपन्यासकार एक लेखक की सफलता इस बात में होती है कि वह जीवन की तस्वीर किस हद तक प्रस्तुत कर सका है। उससे जीवन के बारे में दृष्टिकोण की अपेक्षा नहीं की जाती है। जहाँ तक लेखक जीवन की तस्वीर प्रस्तुत करने में सफल रहा है वहाँ तक उसकी सफलता मानी जाती है। लेकिन जहाँ जीवन के बारे में उनका दृष्टिकोण आने लगता है वहाँ उपन्यासकार विफल होने लगता है। प्रेमचंद के लेखन में दोनों विशेषतायें साथ–साथ पायी जाती हैं। उनके यहाँ जीवन की तस्वीर भी है और जीवन पर विस्तृत दृष्टिकोण भी भाषण के रूप में उपलब्ध है। जीवन की तस्वीर प्रस्तुत करने के लिये आवश्यक है कि लेखक की संवेदना विस्तृत तथा सूक्ष्म हो और जीवन से उसका गहरा परिचय तथा सहानुभूति हो।

किसी भी लेखक की भाषा का स्रोत उसकी संवेदना तथा अनुभव संसार होता है तथा लेखक की संवेदना व उसका अनुभव संसार भाषा को गहरा बोध प्रदान करता है।

प्रेमचंद के लेखन को जीवन की तस्वीर तथा जीवन पर दृष्टिकोण के आधार पर दो भागों में बाँटा जा सकता है, क्रमशः ग्रामीण तथा शहरी । यद्यपि प्रेमचंद खुद मध्यवर्ग से आये थे तथा उनका पाठक वर्ग भी उसी वर्ग का था। उनकी सहानुभूति शहरी पात्रों की बजाय किसान तथा दलितों के साथ रही है। ग्रामीण जीवन का चित्रण तद्भव, देशज, स्थानीय शब्दों तथा मुहावरों व लोकक्तियों द्वारा किया गया है। प्रायः वाक्य विन्यास सरल एवं संयुक्त होते हैं। ग्रामीण जीवन से सम्बंधित कथा में उनकी उपस्थिति अनायास एवं स्वभाविक सी है और इस कारण ग्रामीण जीवन का चित्रण जीवंत हो उठता है। शहरी कथा में शब्दों की विविधता खत्म हो जाती है। वाक्य विन्यास सरल एवं संयुक्त होने के बजाय मिश्रित तथा लम्बे–लम्बे होने लगते है। तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ जाता है। पात्र बातचीत के बजाय भाषण देने लगते हैं। प्रेमचंद का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य समाज–सुधार तथा उपदेश का रहा है। इसलिये उनके तथा उनके पूर्ववर्ती लेखकों की रचनाओं में उपदेश भाषण के रूप में मौजूद है। 'परीक्षागुरू' से 'गोदान' तक सब जगह–समाज सुधार पर भाषण मुद्दों के बदलाव के साथ मिल सकता है। भाषण समाज–सुधार तथा राष्ट्रीय आंदोलन दोनों के लिये लोकशिक्षण का माध्यम था। गाँव का चित्रण करते हुए तद्भव, देशज व स्थानीय शब्दों का प्रयोग तो वे करते है, लेकिन शहरी चित्रण में केवल तत्सम शब्दों का प्रयोग दिखायी देता है। शहर की भाषा में स्थानीयता के तत्व न हों या उसमें विविधता न हो, ऐसा नहीं होता है। प्रेमचंद के यहाँ शहरी जीवन के प्रसंग में ग्रामीण जीवन वाली भाषिक संवेदनशीलता नहीं दिखाई देती है। इस प्रकार पूरा परिवेश ही निस्तेज हो जाता है।

ग्रामीण प्रात्र मदन सिंह की जीवंत भाषा का उदाहरण द्रष्ट्व्य है–

"मदन सिंह चौक पड़े जैसे किसी ने चुटकी काट ली हो, बोले–धन्य हो महाराज! तुमने तो डोंगा ही डुबा दिया। फिर तुमने जनवासे का क्या सामान किया है? क्यों तुम्हे फुरसत ही नहीं मिली या खर्च से हिचक गये? मैंने तो इसीलिये चार दिन पहले ही तुम्हे लिख दिया था। जो मनुष्य ब्राह्मण को न्योता देता है, वह उसे दक्षिणा देने की भी सामर्थ्य रखता है।"[26]

मदन सिंह के छोटे भाई पं0 पद्म सिंह जो शहर में वकील हैं, उनकी भाषा का भी उदाहरण द्रष्ट्व्य है–

"भैया, ईश्वर के लिये आप मेंरे सम्बंध में ऐसा विचार न करें। यदि मेरे प्राण भी आपके काम में आ सकें तो मुझे आपत्ति न होगी। मुझे यह हार्दिक अभिलाषा रहती है। कि आप की कोई सेवा कर सकूँ ।"[27]

मदन सिंह की भाषा जितनी रसपूर्ण है पद्मसिंह की भाषा उतनी ही शुष्क एवं नीरस । गाँव की बारात का चित्रण सरल वाक्य की संरचना में हुआ है। पूरा का पूरा दृश्य मूर्तिमान हो उठा है,

"बारात जनवासे को चली रसद का सामान बँटने लगा। चारों ओर कोलाहल होने लगा। कोई कहता था मुझे घी कम मिला; कोई गोहार लगाता था कि मुझे उपले नहीं दिये गये। लाला बैजनाथ शराब के लिये जिद कर रहे थे।"[28]

ग्रामीण पात्रों में गाँव की घरेलू महिलाओं की भाषा और भी सशक्त जीवंत व सरस होती है। सामान्यतया गाँव के लोगों की भाषा किताबी होने से बच जाती है। गाँव की अनपढ़ महिलाओं की भाषा की शक्ति उनके अनुभव तथा लोकोक्तियों व मुहावरों के प्रयोग की अधिकता के कारण बढ़ जाती है। जाह्नवी की भाषा का उदाहरण द्रष्ट्व्य है–

"बकरा जी से गया, खाने वाले को स्वाद ही न मिला। यहाँ लाज ढोते–ढोते मर मिटे, उसका यह फल। इतने दिन थानेदारी की, लेकिन गंगाजली ने कभी

भूलकर भी एक डिबिया सेन्दुर न भेजा। मेरे सामने कहा होता तो ऐसी–ऐसी सुनाती कि दाँत खट्टे हो जाते । दो–दो पहाड़ सी लड़कियाँ गले पर सवार कर दीं, उस पर बोलने को मरते हैं। उनके पीछे फकीर हो गये उसका यश यह है? अब से अपना पौरा लेकर क्यों नहीं कहीं जाते ? काहे को पैर में मेहदी लगाये बैठे हैं।"[29]

भाषा को सर्जनात्मक बनाने के लिये लेखक शब्द चयन, वाक्य गठन तथा पैराग्राफ विन्यास के स्तर पर प्रयोग करता है। इसके साथ में अलंकारों, गुणों, मुहावरों, लोकोक्तियों तथा अन्य भाषाओं के शब्दों का प्रयोग करता है। प्रेमचंद की भाषा इन विशेषताओं से युक्त तो है ही; साथ में वह वर्णन, चित्रण एवं वार्तालाप की बुनावट में लिखी गयी है, जिसमें तथ्य–निरूपण, व्यंग्य उपमा आदि का प्रयोग हुआ है।

वर्णन का बेहतर उदाहरण उनके यहाँ चरित्र–चित्रण में दिखायी देता है। 'सेवासदन' का पहला पैराग्राफ द्रष्ट्व्य है–

"पश्चाताप के कड़वे फल कभी–न–कभी सबको चखने पड़ते हैं, लेकिन और लोग बुराइयों पर पछताते हैं, दरोगा कृष्णचन्द्र अपनी भलाइयों पर पछता रहे थे। उन्हे थानेदारी करते हुए पचीस वर्ष हो गये; लेकिन उन्होने अपनी नियत को कभी भी बिगड़ने न दिया था। यौवनकाल में भी जब चित्त भोग–विलास के लिये व्याकुल रहता है, उन्होंने निःस्पृह भाव से अपना कर्तव्य पालन किया था। लेकिन इतने दिनों के बाद आज वह अपनी सरलता और विवेक पर हाथ मल रहे थे।"[30]

पैराग्राफ का पहला ही वाक्य एक सूक्ति है जो मानव–जीवन की नियति को उद्घाटित करती है। कृष्णचंद्र के जीवन में यह स्थिति भी विरोधाभास के साथ उपस्थिति है। इसी वाक्य में अपने पात्र की चारित्रिक विशेषता की भी सूचना देते हुए इसे समाज के अन्य लोगों से अलगाते हैं। यहीं पाठक उसके बारे में जानने के लिए उत्सुक हो उठता है। चरित्र चित्रण में प्रेमचंद हिन्दी कथा साहित्य में जो विशिष्टता रखते हैं, वह किसी अन्य में नहीं है। वह पहले अपने पात्र के बारे में तीन–चार

विशेषतायें एक सरल वाक्य में बताते हैं। आगे का पूरा वर्णन एक तरह से पहले वाक्य की व्याख्या करता दिखायी देता है। उदाहरण–

"दरोगा कृष्णचन्द्र रसिक, उदार और बड़े सज्जन मनुष्य थे। "[31]

"उनकी पत्नी गंगाजली, सती–साध्वी स्त्री थी।"[32]

"बड़ी लड़की सुमन सुंदर, चंचल और अभिमानिनी थी। छोटी लड़की शान्ता भोली, गम्भीर, सुशील थी।"[33]

सदन बाल्यकाल में ढीठ, हठी और लड़ाका था। वयस्क होने पर वह आलसी, क्रोधी और बड़ा उदण्ड हो गया।"[34]

"जीतन बहुत प्रसन्न हुआ। उसे सुमन से बड़ी ही चिढ़ थी, जो नौकरों को उन छोटे मनुष्यों से होती है जो उसके स्वामी के मुँह लगे होते हैं। सुमन की चाल उसे अच्छी नहीं लगती थी। बुढ्ढे लोग साधारण बनाव–सिंगार को भी सन्देह की दृष्टि से देखते हैं वह गँवार था। काले को काला कहता था, उजले को उजला; काले को उजला कहने का ढंग उसे न आता था।"[35]

भाषा की संरचना का समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक विशेषताओं के साथ इस्तेमाल जीतन चरित्र–चित्रण में दिखायी देता है। लेखक पहले जीतन के नौकर होने की बात बताकर उसकी सामाजिक हैसियत बता देता है। फिर उसके बुढ्ढे होने की सूचना देकर बूढ़े मन के मनोविज्ञान की ओर संकेत करता है। अंत में उसके गँवार होने की बात बताता है। इस प्रकार गँवार नौकर जीतन की सामाजिक–आर्थिक हैसियत के साथ उसकी मानसिक बुनावट की ओर लेखक इशारा करता है। इस वर्णन से पाठक को एहसास हो जाता है, कि जीतन अब सुमन से किस प्रकार पेश आयेगा।

व्यंग्य बिना सीधे–सीधे किसी को कुछ कहे अपनी चोट कर देता है । प्रेमचंद व्यंग्य का प्रयोग इसी प्रकार करते हैं। धार्मिक सत्ता प्रतिष्ठान की शोषणकारी भूमिका का उद्‌घाटन निम्नांकित है–

"दारोगा जी के हल्के में एक महंत रामदास रहते थे। वे साधुओं की एक गद्दी के महंत थे। उनके यहाँ सारा कारोबार 'श्री बाँकेबिहारीजी' के नाम पर होता था। श्री बाँकेबिहारीजी लेनदेन करते थे और 32 रूपये सैकड़े से कम सूद न लेते थे। वही मालगुजारी वसूल करते थे वही रेहननामे– बैनामें लिखाते थे। श्री बाँकेबिहारीजी की रकम दबाने का किसी को साहस न होता था और न अपनी रकम के लिये कोई दूसरा आदमी उनसे कड़ाई कर सकता था। श्री बाँकेबिहारीजी को रूष्ट करके उस इलाके में रहना कठिन था । ..... ठाकुरजी संसार में आकर संसार की रीत पर चलते थे।"[36]

लेखक अपनी तरफ से अंत में सिर्फ एक वाक्य जोड़ता है, बाकी जो कुछ हो रहा है उसे ही सरल ढंग से रख देता है। प्रेमचंद का व्यंग्य इस सन्दर्भ में सीधा, सरल, तीखा व गहरा है जो अलग से किसी व्याख्या या प्रमाण की माँग नहीं करता, वह भी बिना मुखर हुए।

परिवेश का चित्रण प्रेमचंद की भाषा की महत्वपूर्ण विशेषता है। वर्णन की चित्रात्मकता द्वारा वे पूरे दृश्य, प्रसंग और परिस्थिति को मूर्तमान कर देते हैं। उनके दृश्यविधान का एक सुन्दर उदाहरण द्रष्ट्व्य है–

"चुनार से बारात अमोला चली।.....वैभव व दरिद्रता का अत्यन्त करुणात्मक दृश्य था। पालकियों पर कारचोबी के परदे पड़े हुए थे, लेकिन कहारों की वर्दियाँ फटी हुई और बेडौल थीं। गंगाजमुनी सोंटे और बल्लम फटेहाल मजदूरों के हाथों में बिल्कुल शोभा नहीं देते थे।"[37]

एक ही साथ ऐश्वर्य व दरिद्रता के विरोधाभास का चित्रण तथा उसमें निहित ट्रेजेडी का उद्घाटन प्रेमचंद की कथा–भाषा की महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

प्रेमचन्द परिवेश को पात्रों की मनःस्थिति तथा परिस्थितियों की गंभीरता से जोड़कर प्रस्तुत करते हैं। ऐसे समय में वह वर्णन अत्यन्त गंभीर तथा तनावपूर्ण हो

जाता है। भाषा का प्रतीकात्मक प्रयोग होता है और उनकी भाषा की असली ताकत इन्ही प्रसंगों में दिखायी देती है। सुमन होली का उत्सव देखकर देर रात में अपने घर को लौट रही थी। उस समय का उदाहरण द्रष्ट्व्य है–

"आधी रात बीत चुकी थी। सभा विसर्जित हुई। लोग अपने–अपने घर गये। सुमन भी अपने घर चली। चारो तरफ अंधकार छाया हुआ था सुमन के हृदय में भी नैराश्य का कुछ ऐसा ही अंधकार था। वह घर जाती तो थी, पर बहुत धीरे–धीरे जैसे घोड़ा बम की तरफ जाता है अभिमान जिस प्रकार नीचता से दूर भागता है, उसी प्रकार उसका हृदय उस घर से दूर भागता था।"[38] सुमन के हृदय की निराशा रात के अंधकार से मिलकर और घनी हो गयी है। अनुभूति की तीव्रता आगे और गहरी हो जाती है। तथा पूरा परिवेश प्रतीकात्मक हो उठता है। और हर प्रतीक उसकी हर स्थिति को उद्घाटित कर देता है–

"फागुन में रात को ठण्डी हवा चलती है। सुमन की देह पर एक फटी हुई रेशमी कुरती थी। हवा तीर के समान उसकी हड्डियों में चुभी जाती थी। हाथ–पाँव अकड़ रहे थे। उस पर नीचे की नाली से ऐसी दुर्गन्ध उठ रही थी कि साँस लेना कठिन था। चारों ओर तिमिर मेघ छाया हुआ था, केवल भोलीबाई के कोठे से प्रकाश की रेखाएँ अँधेरी गली की तरफ दया की स्नेहरहित दृष्टि से ताक रही थीं।"[39]

यहाँ सम्प्रेषण एकदम मूर्त हो उठा है। सुमन के जीवन की कठिनाई साफ देखी जा सकती हैं। एक तो ठण्डी हवा, दूसरे वस्त्रों का अभाव और ऊपर से नाली की दुर्गन्ध। वस्त्रों का अभाव सुमन के जीवन में सुविधाओं के अभाव की ओर संकेत करता है। नाली से उठती हुई दुर्गन्ध उस समाज की सड़ांध है, सुमन जिसमें रह रही है। ऐसी विपरीत स्थिति में भोलीबाई के कोठे से प्रकाश की रेखाएँ उसके मन के विकल्प का प्रतीक हैं; जहाँ मर्दों की दुनियां में औरत के विवाहित होने का अर्थ पराधीन होना तथा उसका वेश्या होना स्वाधीन होना होता है। उपर्युक्त दृश्य तत्कालीन समाज व्यवस्था में एक औरत के विवाहित रहते हुए अर्थात कुल–मर्यादा

का पालन करते हुए स्वाधीन होने की किसी भी संभावना के न होने का संकेत देता है। उसके स्वाधीन होने की यहाँ एक ही शर्त है, उसका वेश्या हो जाना। आगे की कथा का विस्तार इसी दिशा में होता है।

डा0 रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कथा भाषा में बिंबात्मक भाषा के महत्व को रेखांकित करते हुए लिखा है ''..... बिम्ब में असली महत्त्व है अनेक स्थितियों के परस्पर संबंध और सम्पर्क के सहारे निर्मित अर्थ–संश्लेष का, जो अनुभव को उसकी समग्रता में व्यक्त करता है। बिम्ब और प्रतीक का अन्तर गुणात्मक है। प्रतीक केवल किसी एक सूक्ष्म या अमूर्तभाव को द्योतित करता है, जबकि बिम्ब में अनेक स्थितियों और पक्षों को एक साथ मिलाने को कोशिश होती है। इसीलिए प्रतीक से कहीं अधिक बिम्ब प्रक्रिया भाषा को सर्जनात्मक बनाती है।''[40] प्रेमचंद ने प्रतीकात्मक के साथ–साथ बिम्बात्मक भाषा का भी प्रयोग किया है। सुमन और शान्ता सदन के साथ गंगा के किनारे झोपड़े में रहती हैं। उनके नहाने जाने का दृश्य उल्लेखनीय है। लेखक उन दोनों में से किसी का भी नाम नहीं लेता और न ही कोई संवाद है, लेकिन दोनों की मनोदशा उनके नहाने के वर्णन से स्पष्ट हो जाती है–

''नित्यप्रति प्रातःकाल हम झोपड़े से दो तारे निकलते हैं और जाकर गंगा में डूब जाते हैं। उनमें से एक बहुत दिव्य और द्रुतगामी है, दूसरा मध्यम और मन्द। एक नदी में थिरकता है, दूसरा अपने वृत्त से बाहर नहीं निकलता। प्रभात की सुनहरी किरणों में इन तारों का प्रकाश मन्द नहीं होता, वे और भी जगमगा उठते हैं।''[41]

सदन के साथ रहते हुए शान्ता के जीवन में आये रस और उत्साह, साथ ही सुमन के जीवन की शुष्कता व नीरसता का पता इस उद्धरण से चलता है ।

समाज–सुधार पर केन्द्रित होने के कारण उपन्यास का एक बड़ा हिस्सा बहस, उपदेश या भाषण के रूप में है । यह स्थिति शहरी पात्रों के ही साथ नहीं है; बल्कि ग्रामीण पात्र मदन सिंह भी पाश्चात्य सभ्यता पर एक लम्बा भाषण दे डालता है। केवल दो–एक स्थल ही ऐसे हैं जहाँ भाषण ओजपूर्ण तथा विचारोत्तेजक बन पड़ा है।

ज्यादा जगह वह नीरस व उबाऊ हो गया है। वेश्याओं को शहर से बाहर रखने के प्रस्ताव पर पद्मसिंह का भाषण ओजपूर्ण तथा विचारोत्तेजक है –

"यह हमारी ही कुवासनाएँ हैं, हमारे ही सामाजिक अत्याचार, हमारी ही कुप्रथाएँ हैं, जिन्होंने वेश्याओं का रूप धारण किया। यह दालमण्डी हमारे ही जीवन का कलुषित प्रतिबिम्ब, हमारे ही पैशाचिक अधर्म का साक्षात स्वरूप है।"[43]

इसी प्रकार कुंवर अनिरुद्ध सिंह ने समाज में वेश्यावृत्ति के कारणों की समीक्षा करते हुए उसमें सभ्यसमाज तथा औपनिवेशिक कृषि–तन्त्र की भूमिका की सही पहचान करते हुए कहा है –"हमारे शिक्षित भाइयों की ही बदौलत दालमण्डी आबाद है, चौक में चहल–पहल है, चकलों में रौनक है। यह मीना–बाजार हम लोगों ने ही सजाया है, ये चिड़ियाँ हम लोगों ने ही फाँसी हैं, ये कठपुतलियाँ हमने बनायी हैं। जिस समाज में अत्याचारी, जमींदार, रिश्वती राज्य–कर्मचारी, अन्यायी महाजन, स्वार्थी बन्धु आदर और सम्मान के पात्र हों, वहाँ दालमण्डी क्यों न आबाद हो? हराम का धन हरामकारी के सिवा और कहाँ जा सकता है? जिस दिन नजराना, रिश्वत, ओर सूद–दर–सूद का अन्त हो जायेगा, उसी दिन दालमण्डी उजड़ जायेगी, ये चिड़ियाँ उड़ जायेंगी– पहले नहीं।"[45]

उपर्युक्त वक्तव्य समाज में वेश्यायों की उपस्थिति में सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था के हाथ की पहचान करता है। उसकी जड़ पर किसानों के श्रम पर पल रहे जमींदार, सूदखोर महाजन, रिश्वतखोर अधिकारी और इन सबकी पैरवी करने वाले शहरी वकील– इन सब की सम्मिलित भूमिका की ओर संकेत करता है। दरअसल वेश्यायें समाज में इसलिये हैं; क्योंकि वे समाज की जरूरत हैं। जब तक यह जरूरत खत्म नहीं होती तब तक वेश्याओं से समाज मुक्त नहीं हो सकता।

हमारी भाषिक चेतना का सामाजिक पक्ष किस प्रकार का होता है, 'सेवासदन' से इसकी भी जानकारी मिलती है। जाति व्यवस्था आधारित समाज में लोगों की प्रशंसा तथा निंदा उसकी जाति के साथ जोड़कर की जाती है। उदाहरण द्रष्ट्व्य है–

"आप ब्राह्मण हैं तो आपको भिक्षुक कहेंगे, क्षत्रिय हैं तो उजड्ड गँवार कहेंगे। वैश्य हैं तो आपको बनिए डण्डी–तौल की पदवी मिलेगी और शूद्र हैं तब तो आप बने– बनाये चण्डाल हैं ही।"[44]

प्रेमचंद की कथा–भाषा उपमा, रूपक, अनुप्रास, अतिशयोक्ति इत्यादि अलंकारों से भी युक्त है। विशेषकर उनके उपमा–विधान ने भाषा को एकदम जीवंत तथा रसपूर्ण बना दिया है। कतिपय उदाहरण द्रष्ट्व्य है–

उपमा :

1. "उमानाथ की सहिष्णुता ने कृष्णचन्द्र को शांत किया पर दोनों में बातचीत न हो सकी । दोनों अपनी–अपनी जगह पर विचार में डूबे बैठे थे जैसे दो कुत्ते लड़ने के बाद आमने–सामने बैठे रहते हैं।" (पृ0–173)

2. "एक क्षण में वे अपने आपको छुड़ाकर चले गये। गंगाजली ने उन्हें पकड़ने को हाथ फैलाये पर उसके दोनों हाथ फैले ही रह गये, जैसे गोली खाकर गिरने वाली किसी चिड़िया के दोनों पंख रह जाते हैं।"(पृ0–29)

3. "वह भूत–प्रेत के विचार को किसी बहाने दूर रखना चाहता था। किंतु ऐसे अवसरों पर गर्मी की मक्खियों की भांति विचार टालने से नहीं टलता। हटा दो फिर आ पहुँचे। "(पृ0–73–74)

4. "गजाधर की दशा उस मनुष्य की–सी थी, जो चोरों के बीच अशर्फियों की थैली लिये बैठा हो।"(पृ0–42)

अनुप्रास :

(1) "सौन्दर्य, सुवर्ण और सौरभ का ऐसा चमत्कार उसने कभी न देखा था।" (पृ0–220)

(2) "रेशम, रंग और रमणीयता का ऐसा अनुपम दृश्य, श्रृंगार और जगमगाहट की ऐसी अद्‌भुत छटा उसके लिये बिल्कुल नई थी।" (पृ0–220)

व्यतिरेक :

"लेकिन घर के सूने कोने और माता के अँचल में बड़ा अंतर है। एक शीतल जल का सागर है, दूसरा मरूभूमि।"(पृ0–152)

रूपक :

1. "मैं ऐसा भावशून्य नीच हूँ कि इस प्रेम–रत्न को कौड़ियों से मोल लेना चाहता हूँ।"(पृ0–112)

2. "मुखड़ा गुलाब है और जिस्म तपाया हुआ कुन्दन।"(पृ0–93)

सूक्तियों के प्रयोग द्वारा प्रेमचंद अपनी भाषा में अपने दृष्टिकोण तथा अनुभव के निष्कर्ष को पाठकों के सामने रखते हैं। उनकी सूक्तियाँ अपनी संरचना में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों की सूक्तियों के स्तर तक पहुँची हुई हैं। कुछ उदाहरण द्रष्ट्व्य है–

1. "हमारा चरित्र कितना ही दृढ़ हो, उस पर संगति का असर अवश्य होता है।" (पृ0–35)

2. "स्त्रियों का सौन्दर्य उनका पति–प्रेम है। इसके बिना उनकी सुन्दरता इन्द्रायण का फल है, विषमय और दग्ध करने वाला ।" (पृ0–42–43)

3. "व्यंग्य और क्रोध में आग और तेल का सम्बंध है।" (पृ0–58)

4. "घर से निकालने की धमकी भयंकर इरादों को पूरा कर देती है।" (पृ0–59)

5. "भय की चरम सीमा ही साहस है।" (पृ0–74)

6. "साहसी पुरूष का कोई सहारा नहीं होता है तो वह चोरी करता है, कायर पुरूष को कोई सहारा नहीं होता तो वह भीख माँगता है, लेकिन स्त्री का कोई सहारा नहीं होता, तो वह लज्जाहीन हो जाती है।" (पृ0–75)

7. "यौवन के पूर्वकाल में हम अपनी कुवासनाओं के प्रदर्शन पर गर्व करते हैं, उत्तरकाल में अपने सद्‌गुणों के प्रदर्शन पर ।" (पृ0–85)

8. "बुराइयों का मुख्य उपचार मनुष्य का सद्‌ज्ञान है।" (पृ0–154–55)

9 "अभिमान अपने अपमान को नहीं भूलता।" (पृ0–203)

10. "पका हुआ फोड़ा नश्तर का घाव चाहता है, पत्थर का आघात नहीं।" (पृ0–233–34)

11. "कच्चा फल पत्थर मारने से भी नहीं गिरता किंतु पककर आप–ही–आप धरती की ओर आकर्षित हो जाता है।" (पृ0–289)

12. "विश्वास से विश्वास उत्पन्न होता है।" (पृ0–340)

मुहावरे एवं लोकोक्तियों का प्रयोग भाषा को जीवंत बनाता है तथा अर्थ को सम्प्रेषित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। मुहावरे, लोकोक्तियों का समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान महत्त्वपूर्ण होता है। इनका प्रयोग स्वभाविक रूप से ग्रामीण तथा निम्न सामाजिक स्थिति वाले लोग करते हैं । विशेषकर लोकोक्तियाँ तो हमारी हिन्दी की जातीय परम्परा का अभिन्न हिस्सा हैं। गाँवों में ये लोकोक्तियाँ अक्षरशः सत्य मानकर बड़े बूढ़ों के अनुभवों के निष्कर्ष के तौर पर श्रद्धापूर्वक दोहराई जाती हैं। 'सेवासदन' में प्रयुक्त मुहावरों एवं लोकोक्तियो के उदाहरण द्रष्ट्‌व्य है–

'सेवासदन' में प्रयुक्त मुहावरों एवं लोकोक्तियों के उदाहरण –

1. "अब दो ही उपाय हैं, या तो सुमन को किसी कंगाल के पल्ले बाँध दूँ या कोई सोने की चिड़िया फसाऊँ।" (पृ0–20)

2. "यदि इस बगुला–भगत को मजा न चखा दिया तो देखना ।" (पृ0–26)

3. "उसके चेहरे का रंग उड़ गया।" (पृ0–27)

4. "उसका हृदय अपनी माता की ओर से फट गया था।" (पृ0–51)

5. "एक पन्थ दो काज हो जायेगा।" (पृ0–51)

6. "उसे तो मानो कुबेर का धन मिल जाता था।" (पृ0–53)

7. "प्राण सूख गये।" (पृ0–55)

8. "रानी रूठेंगी, अपना सुहाग लेंगी ।" (पृ0–57)

9. "जब देखो, म्यान से तलवार बाहर ही रहती है।" (पृ0–57)

10 "मुझे मालूम हो गया है कि शहर का पानी तुझे भी लगा ।" (पृ0–57)

11. "जरा आदमी की तरह बोलना, लाठी मत मारना ।" (पृ0–63)

12. "बाँड़ा आप गये, चार हाथ की पगहिया भी लेते गये ।" (पृ0–63)

13. "अब एक बूढ़े तोते को रटाना पड़ता था ।" (पृ0–80)

14. " आप 'नेकी कर और दरिया में डाल' वाली कहावत पर चलें।" (पृ0–123)

15. "अब कितने दिन जीना है कि नियत बद करूँगा ।" (पृ0–126)

16. "ममेरी बहिनों को तो वह तुरकी–बतुरकी जवाब देती है।" (पृ0–153)

17. "आँख के अंधे गाँठ के पूरे फँसे।" (पृ0–142)

18. मैं उनके साथ बैठता हूँ जो इस अवस्था में भी मेरा आदर करते हैं, जो अपने को मुझसे श्रेष्ठ नहीं समझते, जो कोए होकर हंस बनने की चेष्टा नहीं करते।" (पृ0–171)

19. "आपके इस व्यवहार से मुझे उनके सामने आँखें नीची करनी पड़ती हैं।" (पृ0–171)

20. "हाजी साहब के पेट में चूहे दौड़ रहे थे ।" (पृ0–175)

21. "इनकी आँखों का पानी मर गया।" (पृ0–187)

22. "क्या जान बूझकर जीती मक्खी निगल जाऊँ?" (पृ0–194)

3. "इसमें कम से कम जगहँसाई तो न होगी।" (पृ0–194)

24. "म्युनिसिपैलिटी बिल्कुल बछिया के ताऊ लोगों से भरी हुई है।" (पृ0–212)

25. "अतएव दोनों चाहते हैं, कि आस्तीन का साँप आँखों से दूर हो जाए।" (पृ0–313)

26. "अबकी पाऊँ तो ऐसी कनेठी दूँ कि छठी का दूध याद आ जायेगा।" (पृ0–323)

शब्दों के प्रयोग की दृष्टि से प्रेमचंद ने फारसी, उर्द्, अँग्रेजी, तत्सम, तद्भव, देशज तथा स्थानीय शब्दों का प्रयोग किया है। 'सेवासदन' चूँकि उनका पहला हिन्दी उपन्यास है, अतः यहाँ भाषा के प्रति उस युग का ऐतिहासिक दृष्टिकोण दिखायी देता है। इसमें हिन्दू पात्र संस्कृतनिष्ठ शब्दों का इस्तेमाल करते हैं, जबकि मुसलमान पात्र फारसी से बोझिल उर्दू वाक्यों का। अँग्रेजी भाषा के शब्दों का इस्तेमाल हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही भद्रवर्ग के लोग करते हैं। भाषा के बोल–चाल का स्वरूप तद्भव, देशज तथा स्थानीय शब्दों के प्रयोग से बन पड़ा है। जाहिर है कि ये प्रयोग

गैर भद्र वर्ग के पात्रों अर्थात स्त्रियों तथा ग्रामीण पात्रों के भाषा संस्कार के हिस्से के रूप में आया है। अरबी–फारसी शब्दों के प्रयोग के उदाहरण –

मातहतों, मुहरिर्रे (पृ0–17), अरदली, अफसर दारोगा (पृ0–18), हलकों, मालगुजारी (पृ0–20), रेहननामे–बैनामे, रुक्का, नालिश (पृ0–21), चौकीदार, हकीकात, मुख्तार (पृ0–22), मुसद्दी (पृ0–31), बरकत, गिरवी (पृ0–34), शीरीनी (पृ0–39), मौलूद (पृ0–41), मुजरा (पृ0–51), शिस्त (पृ0–68), किश्त (पृ0–90), रूह (पृ0–92), हुस्नशिनास, जहीन, तुफैल, फैज, पारसाई, रूमुज (पृ0–93) बदजन, इजादारी, जरायमपेशा, मफाद, अकवाम, आलिहाजा, मुलाजिमत, मकरूह, फैल (पृ0–176), मरकज, जजीरा, इसलाह, नादिम (पृ0–177), तामीर, बदरौर, पोशीदा, इत्तहाद, मुखालफत, मुशरिब (पृ0–179), इत्तला (पृ0–198), ईसार, सरूर, खादिम, कजरौ, कजर्बी पाकनफसी (पृ0–199), तरमीम (पृ0–266), खबीस, इखलाकी (पृ0–268)।

तत्सम शब्दों का प्रयोग :

निःस्पृह (पृ0–17), अकर्मण्यता (पृ0–19), सिद्धहस्त (पृ0–26), गार्हस्थ (पृ0–36), उच्चासन (पृ0–45), ज्योतिर्मय (पृ0–52), क्रोधोन्मत (पृ0–57), सरोष, विदीर्ण (पृ0–58) भ्रमर (पृ0–70), क्रीड़ा (पृ0–73), ग्लानि, संधिपत्र (पृ0–83), दुष्प्रेम (पृ0–85), प्राबल्य (पृ0–90), अरूणवर्ण (पृ0–107), अरूणोदय (पृ0–121), सतृष्ण (पृ0–122), ग्रास (पृ0–128) पाषाणहृदय (पृ0–129), लेखनी (पृ0–130), ज्योतिर्जाल (पृ0–144), न्यूनाधिक (पृ0–163), कण्ठध्वनि (पृ0–165), सहस्त्रों (पृ0–190), हृदयाकाश (पृ0–203), निरवलम्ब (पृ0–209), सौन्दर्य, सुवर्ण, सौरभ (पृ0–220), सर्वगुणसम्पन्ना (पृ0–232), विदुषी (पृ0–237), सम्भाषण (पृ0–250)।

तद्भव शब्दों का प्रयोग तत्सम देशज तथा फारसी शब्दों की अपेक्षा कम हुआ है। परन्तु उदाहरण द्रष्ट्व्य है–

सिंगार (पृ0–36), भलेमानुस (पृ0–38), फागुन (पृ0–50), डण्डा (पृ0–55), गाना, अटारी (पृ0–58), डंड (पृ0–84), नेवता (पृ0–132), मलार (पृ0–161)

देशज व स्थानीय शब्दों का प्रयोग :–

आसामी (पृ0–21), बड़प्पन (पृ0–31), बटुली (पृ0–34), ढिबरी (पृ0–55), लहालोट (पृ0–71), कहारिन (पृ0–81), रमझल्ला (पृ0–142), बकबक–झकझक (पृ0–142), कठहुज्जती (पृ0–164), भाँवर (पृ0–165), गोहार (पृ0–189), पालागन (पृ0–208), बड़ाई (पृ0–227), नकधिसनी (पृ0–241), उड़ाऊ–लुटाऊ, टर्राना (पृ0–291), ब्याहता (पृ0–305), बतकहाव (पृ0–306), महनामथ (पृ0–321)।

हिन्दी के तत्सम शब्दों तथा अरबी–फारसी के शब्दों के प्रयोग के अतिवाद के बीच अँग्रेजी के शब्दों का प्रयोग उस युग की भाषा चेतना का पता देते हैं जिसमें अपनी भाषा में शब्द न मिलने पर भारतीय भाषाओं से शब्द लेने के बजाय अँग्रेजी के शब्द लेने की प्रवृत्ति का खुलासा होता है।

अँग्रेजी के प्रयुक्त शब्द :–

कान्सटेबल (पृ0–23), सुपरिण्टेंडेण्ट, पुलिस (पृ0–26), क्लर्क (पृ0–31), म्यूनिसिपैलिटी मेम्बर (पृ0–58), स्लीपर, कालर (पृ0–71), स्टेशन (पृ0–72), सिगरेट (पृ0–76), फैशनेबुल(पृ0–80), मास्टर (पृ0–81), बैंक मैनेजर (पृ0–86), फ्री, लाइब्रेरी (पृ0–113), आनरेरी, म्युनिसिपल, बोर्ड, चेयरमैन (पृ0–113), कौंसिल (पृ0–115), रिपोर्ट (पृ0–127), कमेटी (पृ0–130), ह्वाइट वे कम्पनी (पृ0–157), गवर्नमेण्ट (पृ0–176), पोलिटिकल (पृ0–178), टैक्स, सब इन्सपेक्टर, मजिस्ट्रेट (पृ0–178), डेपुटेशन (पृ0–180), सोलाहैट (पृ0–184), गजट (पृ0–195), पॉलिटिक्स (पृ0–200), रजिस्टर (पृ0–201), टेरियर (पृ0–206), इन्ट्रोड्यूस, बोर्डिंग हाऊस, लेडी, प्रिंसिपल, मिस (पृ0–206), डिनर (पृ0–207), रेकार्ड (पृ0–207), कमिशनर (पृ0–212),

थियोसोफिस्ट (पृ0–246), कम्प्रोमाइज, रिजोल्यूशन (पृ0–268), लिबरल (पृ0–303), स्टीमर (पृ0–342),

आवृत्तिमूलक शब्दों के प्रयोग भी मिलते हैं। जैसे :–

डाँट–डपट (पृ0–17), लेन–देन, खाने–पीने (पृ0–19), गाँजे–चरस (पृ0–21), लाज–शर्म (पृ0–28), रोने–धोने (पृ0–28), नहला–धुलाकर (पृ0–30), पढ़ी–लिखी (पृ0–31), भाई–बन्द (पृ0–32), इज्जत–आबरू (पृ0–40), मान–मर्यादा (पृ0–43), भोग–विलास, लम्बे–लम्बे, भोले–भाले (पृ0–44), कच्चा–पक्का (पृ0–50), बनाव–सिंगार (पृ0–54), अनाप–शनाप (पृ0–58), सेवा–टहल (पृ0–61), ठाट–बाट (पृ0–71), झूठ–मूठ (पृ0–141), दौड़ते–दौड़ते (पृ0–173), रूपये–पैसे (पृ0–173) निशि–वाशर (पृ0–317)।

समाज में अँग्रेजी के व्यवहार बढ़ने तथा अपनी भाषा छोड़कर अँग्रेजी अपनाने की ललक का पता भी 'सेवासदन' से चलता है। अँग्रेजी के प्रभाव में किस प्रकार हमारी भाषा चेतना दूषित हो रही थी, इसका पता भी 'सेवासदन' से चलता है। अँग्रेजी के प्रभाव में किस प्रकार लोग राम को रामा, कृष्ण को कृष्णा कहते हैं, इस पर विद्ठलदास नामक पात्र टिप्पणी करता है "यह मानसिक गुलामी उस भौतिक गुलामी से गयी–गुजरी है। आप उपनिषदों को अँग्रेजी में पढ़ते हैं, गीता को जर्मन में, अर्जुन को अर्जुना और कृष्ण को कृशना कहकर अपने स्वभाषा ज्ञान का परिचय देते हैं।"[45]

इतना ही नहीं कुछ पात्रों द्वारा अंग्रेजी के वाक्यों का भी इस्तेमाल हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'सेवासदन' प्रेमचंद की कथा–भाषा की निर्मिति के आरंभिक चरण का प्रमाण है। इसमें कथा–भाषा की परंपरा का पालन भी है और उसका विवेकानुसार त्याग भी। भारतेन्दु युग से कथा–भाषा की जो परम्परा उन्हें प्राप्त हुई थी, उन्होंने उसका मार्जन और परिष्कार किया।

संदर्भ–सूची :

1. सेवासदन – प्रेमचंद; पृ0–170
2. सेवासदन – प्रेमचंद; पृ0–249
3. रस्साकशी – वीर भारत तलवार; पृ0–212
4. प्रेमचंद रचनावली – सं0–रामविलास शर्मा, भाग–19; पृ0–36
5. प्रेमचंद रचनावली – सं0–रामविलास शर्मा, भाग–19; पृ0–39
6. प्रेमचंद रचनावली – सं0–रामविलास शर्मा, भाग–19; पृ0–46
7. प्रेमचंद रचनावली – सं0–रामविलास शर्मा, भाग–7; पृ0–482
8. प्रेमचंद रचनावली – सं0–रामविलास शर्मा, भाग–7; पृ0–483
9. महाकवि माघ का प्रभात वर्णन – आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी गद्य मधुसंचय, (सं0–परमानंद श्रीवास्तव); पृ0–21–22
10. गुलेरी साहित्यालोक – सं0–मनोहर लाल; पृ0–226
11. प्रसाद वाङ्मय – सं0–रत्नशंकर प्रसाद, भाग–4; पृ0–15
12. प्रेमचंद रचनावली – सं0–रामविलास शर्मा, भाग–7; पृ0–449
13. प्रेमचंद रचनावली – सं0–रामविलास शर्मा, भाग–7; पृ0–416
14. प्रेमचंद रचनावली – सं0–रामविलास शर्मा, भाग–7; पृ0–426–427
15. प्रेमचंद रचनावली – सं0–रामविलास शर्मा, भाग–7; पृ0–409
16. प्रेमचंद रचनावली – सं0–रामविलास शर्मा, भाग–7; पृ0–433
17. प्रेमचंद की कथा साहित्य में हिन्दू–मुस्लिम संबंध – ओम प्रकाश सिंह; पृ0–221
18. प्रेमचंद के उपन्यासों का शिल्प–विधान – कमल किशोर गोयनका; पृ0–523
19. सेवासदन – प्रेमचंद; पृ0–179
20. समकालीन यथार्थ और कथा भाषा की समस्याएँ – रामस्वरूप चतुर्वेदी : सामाजिक यथार्थ और कथा भाषा (सं0–अज्ञेय); पृ0–40
21. सेवासदन – प्रेमचंद; पृ0–54
22. सेवासदन – प्रेमचंद; पृ0–256
23. सेवासदन – प्रेमचंद; पृ0–166

24. सेवासदन – प्रेमचंद; पृ0–134

25. सेवासदन – प्रेमचंद; पृ0–33

26. सेवासदन – प्रेमचंद; पृ0–158

27. सेवासदन – प्रेमचंद; पृ0–158

28. सेवासदन – प्रेमचंद; पृ0–189

29. सेवासदन – प्रेमचंद; पृ0–186–187

30. सेवासदन – प्रेमचंद; पृ0–17

31. सेवासदन – प्रेमचंद; पृ0–17

32. सेवासदन – प्रेमचंद; पृ0–17

33. सेवासदन – प्रेमचंद; पृ0–18

34. सेवासदन – प्रेमचंद; पृ0–71

35. सेवासदन – प्रेमचंद; पृ0–63

36. सेवासदन – प्रेमचंद; पृ0–20–21

37. सेवासदन – प्रेमचंद; पृ0–88–89

38. सेवासदन – प्रेमचंद; पृ0–54

39. सेवासदन – प्रेमचंद; पृ0–55

40. समकालीन यथार्थ और कथा भाषा की समस्याएँ – रामस्वरूप चतुर्वेदी : सामाजिक यथार्थ और कथा भाषा (सं0–अज्ञेय); पृ0–40

41. सेवासदन – प्रेमचंद; पृ0–311

42. सेवासदन – प्रेमचंद; पृ0–217

43. सेवासदन – प्रेमचंद; पृ0–267

44. सेवासदन – प्रेमचंद; पृ0–249

45. सेवासदन – प्रेमचंद; पृ0– 247

तृतीय अध्याय

प्रेमचंद की कथा-भाषा का दूसरा पड़ाव : 'कर्मभूमि'

'कर्मभूमि' का प्रकाशन 1932 ई. में हुआ। इस उपन्यास की कथा का ताना–बाना राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि में रचा गया है। इस उपन्यास में लाला समरकांत नामक एक महाजन तथा उसके पुत्र अमरकांत के तनावपूर्ण आपसी सम्बंधों की कथा है। यह कथा लाला समरकांत के परिवार के बिखराव का राष्ट्रीय आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में सार्थक हो उठने की कथा है। राष्ट्रीय आन्दोलन में लेखक की आस्था व विश्वास का चरमोत्कर्ष यहाँ देखा जा सकता है।

इसमें तीन आंदोलन हैं। पहला आंदोलन अछूतों का मंदिर में प्रवेश के लिए है। दूसरा आंदोलन किसानों के लगान को आधा किए जाने की माँग को लेकर है। तीसरा आंदोलन शहरी मेहनतकश जनता का अपने घर के लिए जमीन की माँग का है। उपन्यास के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अब तक राष्ट्रीय आन्दोलन जन सरोकारों से जुड़ चुका था। किसानों, दलितों की मुक्ति का प्रश्न राष्ट्रीय आन्दोलन का पक्ष हो गया था।

तत्कालीन ऐतिहासिक परिदृश्य भी इसका प्रमाण देता है। हड़ताल व सत्याग्रह की रणनीति का प्रयोग लेखक अपनी कथा में वर्णित आन्दोलनों के आयोजन में करता है। इतना ही नहीं, कांग्रेस के रचनात्मक कार्यों यथा सूत कातना, अछूतों के बीच काम करना तथा स्कूल चलाना ये सब इस उपन्यास में देखे जा सकते हैं। अमर तथा लाला समरकांत क्रमशः देश की प्रगतिशील तथा प्रतिक्रियावादी, आधुनिक तथा परंपरावादी शक्तियों के प्रतीक हैं। इनका आपसी टकराव देश की सामाजिक बदलाव की शक्तियों और परंपरावादी शक्तियों के बीच टकराव का प्रतीक है। इस टकराव का नतीजा परंपरावादी शक्तियों की पराजय के बजाय उनके हृदय परिवर्तन में होता है।

उपन्यास में आयोजित तीन आन्दोलनों में से दो सफल होते हैं। अछूतों का मंदिर प्रवेश आन्दोलन तथा शहरी जनता का जमीन के लिए आन्दोलन सफल होता है। किसान आन्दोलन कुछ खास सफलता हासिल नहीं कर पाता और नेतृत्व की

समझौता परस्ती का शिकार होता है। ऐतिहासिक रूप से अछूतों के मंदिर प्रवेश आन्दोलन की सफलता गलत है। 1924 ई. में केरल के वायकोम में तथा 1931 ई. में गुरुवयूर के मंदिरों में अछूतों के प्रवेश का आन्दोलन सफल नहीं हो सका था। 1917 ई. में पहली बार कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पास कर जनता से उन कुरीतियों को समाप्त करने का आह्वान किया जो अछूतों तथा पिछड़ों के प्रति अन्यायपूर्ण थीं। यह आह्वान मौखिक ही था। इसके लिए कोई ठोस कार्यक्रम तैयार नहीं किया गया था। गांधीजी ने छुआछूत के खिलाफ पहली बार ठोस पहल की । प्रो0 बिपिन चन्द्र ने लिखा है "राष्ट्रीय नेताओं में गांधीजी ही पहले नेता थे, जिन्होंने इसके खिलाफ आवाज उठाई। उन्होंने छुआछूत खत्म करने को सबसे अधिक प्राथमिकता दी और घोषणा की कि छुआछूत के खिलाफ संघर्ष आजादी के लिए संघर्ष से कम महत्वपूर्ण नहीं है।"[1]

केरल के वायकोम में तथा गुरुवयूर मंदिरों में अछूतों के प्रवेश का आन्दोलन सफल नहीं हुआ था। यद्यपि इन आन्दोलनों से निकली ऊर्जा का ही परिणाम था कि 1936 ई0 में ट्रावणकोर के महाराजा ने एक आदेश द्वारा सरकार नियंत्रित मंदिरों को सभी हिन्दुओं के लिए खोल दिया।

"कर्मभूमि" में किसानों का आधा लगान माफ किए जाने के लिए आन्दोलन है। अवध के किसान आन्दोलन पर प्रेमचन्द इससे पूर्व प्रेमाश्रम लिख चुके थे। 1928 ई. में बारदोली में किसानों द्वारा लगान न देने का आन्दोलन हुआ। सविनय अवज्ञा आन्दोलन में भी कर न देने का आन्दोलन हुआ।

दलितों की समस्या को प्रेमचन्द, गांधीजी की तरह छुआछूत की समस्या मानते थे। "कर्मभूमि" में यह स्थिति दिखायी देती है। 'कर्मभूमि' का एक दलित पात्र काशी कहता है– "सारी दुनिया हमें इसीलिए अछूत समझती है कि हम दारू–शराब पीते हैं, मुरदामांस खाते हैं और चमड़े का काम करते हैं।"[2] दलितों और किसानों की समस्या के प्रति प्रेमचन्द की दृष्टि सतही है। जो आगे चलकर गोदान में गहरी

हो जाती है। "किसानी में मरजाद है"[3] यह मिथ्या चेतना भारतीय किसान की कमजोरी भी है और उसकी ताकत भी। इसी चेतना के कारण लाख परेशानी के बाद भी किसान खेती छोड़ नहीं पाता।

सेवासदन में समाज सुधार की चेतना वैयक्तिक और असंगठित है। 'कर्मभूमि' में आकर वह चेतना संगठित होकर राजनीतिक हो जाती हैं। सेवासदन में समाज के उद्धार का प्रयास है, 'कर्मभूमि' में जनता के अधिकार का प्रश्न है। यही वह फर्क है जो सेवासदन को एक सामाजिक उपन्यास बनाता है और 'कर्मभूमि' को राजनीतिक आन्दोलनों से जोड़ देता है।

'कर्मभूमि' उपन्यास की संरचना में राजनीतिक चेतना के कारण मुखरता दिखायी देती है। यह मुखरता उसके राष्ट्रीय आन्दोलन के सरोकारों के कारण स्वाभाविक रूप से जुड़ी हुई है।

स्त्रियों के प्रति प्रेमचन्द्र के दृष्टिकोण में फर्क राष्ट्रीय आन्दोलन के संदर्भ में आया है। सेवासदन की सुमन अपनी विलास लालसा पर प्रायश्चित करती है। लेकिन 'कर्मभूमि' की सुखदा अपने पति के सामने हमेशा एक चुनौती की तरह उपस्थित रहती हैं। सुखदा प्रो0 शान्ति कुमार से प्रश्न करती है "ऐसे पुरुष जो स्त्री के प्रति अपना धर्म न समझे क्या अधिकार है कि वह स्त्री से व्रतधारिणी रहने की आशा रखे?"[4] सुखदा का प्रश्न एक अभिजात्य स्त्री का समाज का उद्धार करने का दावा करने वाले बुद्धिजीवी से प्रश्न है। औरत होने की पहचान के प्रति संवेदनशील सुखदा का अन्त भी लेखक के अनुसार प्रायश्चित करते हुए हुआ है। सुखदा विलासिनी के रूप में चित्रित होकर लेखक का तिरस्कार पाती है लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेकर वह उसकी प्रशंसा का पात्र बन जाती है। स्त्रियों की शिक्षा की मांग स्त्रियों की दशा सुधारने से प्रेरित न होकर शहरी भद्रवर्ग की अपनी आवश्यकताओं से प्रेरित थी। 'कर्मभूमि' से इसका पता चलता है। नैना का पति मनीराम पत्नी के रूप में अपने लिए पढ़ी–लिखी तथा बोल्ड लड़की की जरूरत बताते हुए कहता है–"मेरे घर में

ऐसी औरत की जरूरत थी, जो सोसाइटी का आचार–व्यवहार जानती हो, जो लेडियों का स्वागत–सत्कार कर सके। इस शादी से वह पूरी हुई नहीं। मुझे मजबूर होकर दूसरा विवाह करना पड़ेगा।"[5]

सेवासदन से 'कर्मभूमि' की यात्रा में प्रेमचन्द की संवेदना के साथ–साथ उनकी भाषा का भी विकास हुआ। सेवासदन प्रेमचन्द की कथा–भाषा का प्रारम्भिक रूप है तथा वहाँ लेखक की विचारधारा भी विकसित नहीं है। 'कर्मभूमि' में मुखर राजनीतिक चेतना का प्रभाव भाषा पर देखा जा सकता है। 'कर्मभूमि' अपनी संरचना में किसी लोकप्रिय व्यावसायिक हिन्दी फिल्म की कहानी की तरह लगता हैं। 'कर्मभूमि' में तनाव के क्षण तो आते हैं, लेकिन लेखक उस तनाव को हद से गुजरने नहीं देता बल्कि तनाव को जल्द से जल्द समाप्त कर देता है। ऐसे कई अवसर आए हैं। अमर की अपनी पत्नी सुखदा तथा पिता समरकांत से नहीं बनती लेकिन सुखदा के गर्भवती होते ही उनके आपसी संबंधों का तनाव खत्म हो जाता है। बुढ़िया पठानिन के घर की दशा अमर व सलीम के सहयोग से सुधर जाती है। अछूतों के मंदिर प्रवेश के आन्दोलन का तनाव सुखदा के नेतृत्व में हल हो जाता है। जमींदार महंतजी तथा किसानों के बीच तनाव का अन्त अमर के द्वारा हो जाता है। शहरी मेहनतकश जनता के आन्दोलन का नेतृत्व करते हुए नैना की मौत से उपजा तनाव म्युनिसिपल बोर्ड के सदस्यों के हृदय परिवर्तन के साथ खत्म हो जाता है। शुरूआत के बिछड़े सारे लोग जेल में आकर मिल जाते हैं। इस प्रकार कथा सुखान्त बन जाती है। निश्चित तौर पर कथा के स्वाभाविक विकास की स्थिति उपन्यास को तनाव पूर्ण तथा गहरे अर्थ संश्लेष में उतार देती लेकिन समाधान देने की जल्दबाजी के कारण ऐसा नहीं हो सका। गोदान की संरचनात्मक संश्लिष्टता का कारण संभवतः तनाव को समाप्त करने के बजाय लेखक की दिलचस्पी उसको गहरा करके प्रस्तुत करने में है। इसी कारण यथार्थ व भाषा दोनों ही स्तरों पर 'गोदान' प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कृति बन सका।

सेवासदन से गोदान के बीच 'कर्मभूमि' एक संधिस्थल की तरह है। वह संधि संवेदना तथा भाषा दोनों स्तरों पर है। सेवासदन में हिन्दी उर्दू विवाद दिखायी देता है तथा लेखक खुद इस मिथ्या चेतना का शिकार है कि हिन्दी हिन्दुओं की तथा उर्दू मुसलमानों की भाषा है। 'कर्मभूमि' में लेखक की यह धारणा समाप्त हो गयी है। भाषा का एक सामान्य रूप उभरा हुआ दिखायी देता है। भाषा भेद का साम्प्रदायिक आधार 'कर्मभूमि' में मिट गया है। भाषिक चेतना का वर्गीय तथा सामाजिक आधार स्पष्ट दिखायी देने लगता है। कथा संरचना में भाषा प्रयोग के दो आधार होते हैं। (1) प्रात्रों की भाषा तथा लेखक की भाषा (2) शहरी तथा ग्रामीण पृष्ठभूमि की भाषा। शहरी तथा ग्रामीण पात्रों की भाषा में अन्तर होता है। शहरी पात्रों में भी पढ़े–लिखे, कम पढ़े –लिखे, अनपढ़ निम्नवर्गीय लोगों की भाषा में अन्तर होता है। इसी प्रकार ग्रामीण पात्रों की भाषा में आयु तथा सामाजिक स्थिति के अनुसार अन्तर होता है। प्रेमचन्द के लेखन में इसे देखा जा सकता है।

शहरी पात्रों में अमर, सलीम, प्रो0 शान्तिकुमार, मि0 गजनवी, हाजी हालिम, लालासमरकांत,रेणुका देवी, सुखदा व नैना इत्यादि आते हैं। ये संभ्रात नागरिक पात्र हैं। इनके साथ ही शहरी निम्नवर्गीय जनता है, जिसमें सुमेर, मैकू, ईदू, बुढ़िया पठानिन इत्यादि आते हैं। स्त्री–पुरूष पात्रों की भाषा में अन्तर होता है चाहे वे किसी पृष्ठभूमि के हों। संभ्रान्त परिवारों में होने के बावजूद स्त्रियों की भाषा संभ्रान्त परिवार के पुरूषों की भाषा से स्वरूप व संरचना में अलग है। यह भाषिक चेतना संभ्रान्त परिवारों में भी स्त्रियों की हीन समाजिक स्थिति का पता देती है।

हिन्दू–मुस्लिम पात्रों की भाषा के बीच हिन्दी उर्दू का साम्प्रदायिक भेद मिट गया। हिन्दू और मुसलमान एक जैसी भाषा का प्रयोग करते हैं। अमर और सलीम की बातचीत का उदाहरण द्रष्टव्य है–

''सन्ध्या समय जब छुट्टी हुई और दोनों मित्र घर चले, अमरकांत ने कहा 'तुमने आज मुझ पर जो एहसान किया''''

सलीम ने उसके मुँह पर हाथ रखकर कहा, "बस खबरदार जो मुंह से एक आवाज भी निकाली। कभी भूल कर भी इसका जिक्र न करना ।"

"आज जलसे में आओगे?"

"मजमून क्या है? मुझे तो याद नहीं।"

"अजी वही पश्चिमी सभ्यता है।"

"तो मुझे दो–चार पाइंट बता दो,नहीं मैं वहाँ कहूँगा क्या?"

"बताना क्या है! पश्चिमी सभ्यता की बुराइयाँ हम सब जानते ही हैं। वही बयान कर देना।"[6]

इस समय का भारतीय समाज साम्प्रदायिकता के दबाव में दरक रहा था, पर 'कर्मभूमि' में ऐसी भाषा का प्रयोग हिन्दू–मुस्लिम भद्रवर्ग की साझीदारी का पता देता है। सलीम अमर से कहता है " तुम्हारे खयालात तकरीरों में सुन चुका हूँ, अखबारों में पढ़ चुका हूँ। ऐसे खयालात बहुत ऊंचे, बहुत पाकीजा, दुनियां में इन्कलाब पैदा करने वाले होते हैं और कितनों ने ही इन्हें जाहिर करके नामवरी हासिल की है।"[7]

प्रेमचन्द ने भाषा का यह मिजाज केवल मुस्लिम पात्रों को प्रामाणिक या स्वभाविक बनाने के लिये नहीं रखा है। अगर ऐसा होता तो हिन्दू पात्र इस तरह की भाषा का प्रयोग नहीं करते। अमर की भाषा का उदाहरण देखा जा सकता है जो अपने स्वरूप में सलीम की भाषा से अलग नहीं है। अमर कहता है "मैं किसी रिश्ते या दौलत को अपनी आत्मा के गले की जंजीर नहीं बना सकता. . .। मैं उन आदमियों में नहीं हूँ जो जिंदगी की जंजीरों को ही जिन्दगी समझते हैं। मुझे जिन्दा रहने के लिये ऐसे दिल की जरूरत है जिसमें आरजुएँ हों, दर्द हो, त्याग हो, जो मेरे साथ रो सकता हो; मेरे साथ जल सकता हो। महसूस करता हूँ कि मेरी जिन्दगी पर रोज–ब–रोज जंग लगता जा रहा है। इन चंद सालों में मेरा कितना रूहानी जवाल हुआ, इसे मैं ही समझता हूँ। मै जंजीरों में जकड़ा जा रहा हूँ। सकीना ही मुझे

आजाद कर सकती है, उसी के साथ मैं रूहानी बलंदियों पर उड़ सकता हूँ।"[8] सलीम और अमर की भाषा के इस स्वरूप से हिन्दू–मुस्लिम भद्रवर्ग की भाषा की एकता का पता चलता है। यद्यपि सारे मुस्लिम पात्रों की भाषा में उर्दूपन साफ दिखायी देता है। सलीम, हाफिज हलीम, मि0 गजनवी, तथा सकीना की भाषा इसका उदाहरण है। बुढ़िया पठानिन की भाषा अवश्य ही इसका अपवाद है। उसकी भाषा उसकी वर्गीय स्थिति के अनुरूप है।

पढ़े–लिखे शहरी पात्रों की भाषा का किताबी होना उनकी भाषा का सबसे बड़ा दोष है। प्रो. शान्तिकुमार मि0 गजनवी इत्यादि की भाषा इसका उदाहरण है। जबकि अनपढ़ तथा कम पढ़े लिखे लोगों की भाषा किताबी न होने के कारण जीवंत तथा प्रामाणिक है। शहरी पात्रों का अनुभव संसार सीमित होता है तथा उनकी भाषा व यथार्थ का बोध किताबी होता है जबकि अनपढ़ या कम पढ़े लिखे लोगों की भाषा व यथार्थ का स्रोत उनका अनुभव संसार होता है। 'कर्मभूमि' के पात्रों की भाषा के प्रसंग में यह स्थिति साफ देखी जा सकती है। प्रो0 शान्ति कुमार के विचार भले ही ऊँचे और महत्वपूर्ण हों और पाठक उनसे सहमत हो। लाला समरकांत के विचारों से भले ही पाठक असहमत हो या विरोधी हो लेकिन प्रो0 शान्तिकुमार की भाषा के बजाय लाला समरकांत की भाषा ही पाठक को अच्छी लगती है। कारण स्पष्ट है– लाला समरकांत की भाषा प्रो0 शान्तिकुमार की भाषा की तरह किताबी तथा कृत्रिम नहीं है, बल्कि वह बाजारों व गलियों में बनी हुई जन भाषा है। उस भाषा में मुहावरेदानी है। तद्भव, देशज व स्थानीय शब्द हैं। लाला समरकांत की भाषा उनके अनुभव की भाषा है जिसमें कोई अकादमिक कृत्रिमता नहीं है। उदाहरण के लिए लाला समरकांत अमर से कहते हैं–

"बस, तुम्हीं तो संसार में एक धर्म के ठीकेदार रह गये हो, और सब तो अधर्मी हैं। वही माल जो तुमने अपने घमण्ड में लौटा दिया, तुम्हारे किसी दूसरे भाई ने दो–चार रूपये कम–बेश देकर ले लिया होगा। उसने तो रूपये कमाए, तुम नींबू–नोन चाटकर रह गये। डेढ़ सौ रूपये तब मिलते हैं, जब डेढ़ सौ थान कपड़ा या डेढ़ सौ

बोरे चीनी बिक जाएँ। मुँह का कौर नहीं है। अभी कमाना नहीं पड़ा है, दूसरों की कमाई से चैन उड़ा रहे हो, तभी ऐसी बातें सूझती हैं। जब अपने सिर पड़ेगी तब आँखें खुलेंगी।"[9] इसी के समानान्तर प्रो0 शान्तिकुमार की भाषा का उदाहरण देखा जा सकता हैं–

"गवर्नमेण्ट तो कोई जरूरी चीज नहीं। पढ़े–लिखे आदमियों ने गरीबों को दबाए रखने के लिए एक संगठन बना लिया है। उसी का नाम गवर्नमेण्ट है। गरीब और अमीर का फर्क मिटा दो और गवर्नमेण्ट का खातमा हो जाता है।"[10]

भारत में बुद्धिजीवियों की एक समस्या उनकी भाषा की समस्या है। उपर्युक्त वक्तव्य में कितना क्रांतिकारी विचार है, हम सब उससे परिचित हैं। भारत का बुद्धिजीवी इस देश की श्रमजीवी जनता की समस्याओं पर चिंतन तो करता है, लेकिन उसकी भाषा श्रमजीवी जनता की भाषा से एकदम अलग होती है। जिस तरह से भारत के बुद्धिजीवी वर्ग और श्रमजीवी वर्ग की भाषा एक दूसरे से नहीं जुड़ती, उसी प्रकार वे भी एक दूसरे से नहीं जुड़ पाते हैं।

शहर में रहने वाले भद्रवर्गीय तथा निम्नवर्गीय पात्रों की भाषा एक जैसी नहीं होती । निचले तबके के हिन्दू–मुस्लिम पात्रों की भाषा एक है। यह भाषा की एकता के वर्गीय आधार का प्रमाण है। चोर काले खाँ की भाषा का उदाहरण द्रष्टव्य हैं–

" यह तो तुम बिल्कुल नई बात कहते हो भैया । लाला इसी नीति पर चलते, तो आज महाजन न होते । हजारों रूपये की चीज मैं ही दे गया हूँगा, अँगनू, महाजन, भिखारी, हींगन सभी से लाला का व्यवहार है। कोई चीज हाथ लगी और आँख बन्द करके यहाँ चले आये, दाम लिया और घर की राह ली। इसी दुकान से बाल, –बच्चों का पेट चलता है। कॉटा निकालकर तौल लो। दस तोले से कुछ ऊपर हीं निकलेगा।"[11]

इसी प्रकार ईदू कुजड़ा की भाषा का उदाहरण देखा जा सकता है, वह कहता है–

"अगर मुकद्दर में आराम करना लिखा होता, तो हम भी किसी बड़े आदमी के घर न पैदा होते! हाफिज हलीम आज बड़े आदमी बन गये हैं, नहीं मेरे सामने जूते बेचते थे। लड़ाई में बन गये। अब रईसों के ठाठ हैं।"[12]

मतई जमादार की भी भाषा इससे अलग नहीं है। उदाहरण देखा जा सकता है–

"कोई सरकार का नौकर है, कोई रहीस का नौकर है। हमको यहाँ कौल–कसम भी कर लेनी होगी कि जब तक हड़ताल रहे कोई किसी की जगह पर न जाए, भूखों मर भले ही जाए।"[13]

समाज की निम्नवर्गीय जनता की भाषा एक जैसी है चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान। इसी प्रकार मैकू चौधरी, जगन्नाथ महरा इत्यादि की भाषा का भी स्वरूप है।

महिला पात्रों में रेणुका देवी, सुखदा, नैना, बुढ़िया पठानिन व सकीना हैं। सकीना की भाषा महिला पात्रों की भाषा का अपवाद है। उसकी भाषा में अरबी–फारसी के शब्द पुरुष पात्रों की तरह प्रयुक्त हुए हैं। उसकी भाषा का उदाहरण देख सकते हैं जो अमर व सलीम की भाषा से भिन्न नहीं है–

"मुहब्बत खुद अपना इनाम है। नहीं जानती जिंदगी किस तरह ले जायेगी; लेकिन जो कुछ भी हो, जिस्म चाहे किसी का हो जाए, यह दिल हमेशा तुम्हारा रहेगा।.....असली मुहब्बत वह है जिसकी जुदाई में भी विसाल है,.....।"[14]

रेणुका, सुखदा व पठानिन की भाषा एक तरह की है। महिलाओं की भाषा की एक सामान्य विशेषता जो दिखायी देती है, वह है शब्दों की पुनरूक्ति। पुरूषों से अलग स्त्रियों की सामाजिक अस्मिता को प्रेमचन्द ने शब्दों की पुनरूक्ति द्वारा भाषा में ढाल दिया है। रेणुका देवी अपनी बेटी सुखदा से बात करते हुए कहती हैं–

"तेरी जैसी रूपवती–एक सीधे–सादे छोकरे को भी न संभाल सकी ? चाल–चलन का कैसा है?"[15] आगे सुखदा कहती है, "वह चाहते है कि मैं उनकी साथ तपस्विनी बनकर रहूँ। रूखा–सूखा खाऊँ, मोटा–झोटा पहनूँ और वह घर से अलग होकर मेहनत और मजूरी करें।..... वह अपने मन की करेंगे, मेरे आराम–तकलीफ की बिल्कुल परवाह न करेंगे, तो मैं भी उनका मुँह न जोहूँगी।"[16]

इसी प्रकार बुढ़िया पठानिन की भाषा में भी शब्दों की पुनरूक्ति देखी जा सकती है वह अमर से कहती है

" मैं किसी के आसरे–भरोसे नहीं हूँ बेटा, जीते रहें मेरे लाला समरकान्त। वह मेरी परवरिश करते हैं . . . इसी कमाई से खुदा ने कुछ ऐसी बरक्कत दी कि घर–द्वार बना, बाल–बच्चों का ब्याह–गौना हुआ, चार पैसे हाथ में हुए।"[17]

एक धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक चरित्र की विशिष्टता उसकी आचार की नैतिकता, व्यवहार की शुद्धता और विचारों की क्रान्तिकारिता या महानता में निहित होती है। साहित्यिक कृति के चरित्र की विशष्टता उपर्युक्त तत्वों से निर्मित नहीं होती। साहित्यिक कृति में चरित्र कितना प्रामाणिक है तथा कथा में उसकी उपस्थिति कितनी जीवंत व सशक्त है? यही महत्वपूर्ण होता है। प्रेमचन्द के साहित्य में दलित, स्त्रियाँ, किसान, बच्चे तथा पशु इसी तरह के चरित्र हैं। इनसे संबंधित कथा में चाहे वह पात्रों की भाषा हो या लेखक के वर्णन चित्रण की भाषा हो, उसमें सरलता, स्पष्टता तथा जीवंतता होती है। पात्रों की भाषा तथा लेखक के वर्णन की भाषा ग्रामीण प्रसंगों में आकर सूक्ष्म, संवेदनशील व सटीक हो जाती है। तद्भव, देशज व स्थानीय शब्दों का प्रयोग बढ़ जाता है। मुहावरे, लोकोक्तियाँ तथा शब्दों की पुनरुक्ति की मात्रा बढ़ जाती है।

व्यक्ति की सामाजिक स्थिति से उसकी भाषा का गहरा रिश्ता होता है। शहर में रहने वाला अमर जब गाँव में दलितों के बीच रहने जाता है तो उन्हीं की तरह भाषा बोलता है। उदाहरण द्रष्टव्य है। वह सलोनी से बात करते हुए कहता है–

"मैं जाँत–पाँत नहीं मानता, माताजी। जो सच्चा है, वह चमार भी हो, तो आदर के जोग है; जो दगाबाज, झूठा, लंपट हो, वह ब्राह्मण भी हो, तो आदर के जोग नहीं। लाओ, लकड़ियों का गठ्ठा मैं लेता चलूँ।"[18] इसी तरह मुन्नी की भाषा देखी जा सकती है जो ठकुराइन होकर दलितों के बीच रहने आई है। सुखदा से बातचीत में वह बताती है "हूँ तो ठकुरानी, पर अब कुछ नहीं हूँ। जात–पाँत, पूत–भतार, सबको रो बैठी।"[19] भाषा का यह प्रयोग हमारी बोलियों की सर्जनात्मक क्षमता का जबर्दस्त उदाहरण है।

दलितों की भाषा सम्बन्धी चेतना का उदाहरण भी 'कर्मभूमि' में देखा जा सकता है। यहाँ भाषा का समाजशास्त्रीय आधार स्पष्ट देखा जा सकता है। दलित पात्रों के नाम उनकी सामाजिक स्थिति के अनुरूप हैं। गूदड़, पयाग, काशी तथा बच्चों के नाम तेजा, दुरजन, जंगलिया, भुलई, पुन्नू, घसीटे इत्यादि हैं।

लाला समरकांत व दलित बच्चों की भाषा में अन्तर उनकी बातचीत के प्रसंग में दिखायी देता है:

"तेजा ने पूछा, "दादा, जब अमर भैया छोटे से थे, तो बड़े शैतान थे न?"

समरकांत ने इस प्रश्न का आशय न समझकर कहा, "नहीं तो, वह तो लड़कपन से ही बड़ा *सुशील* था।"

दुर्जन ताली बजाकर बोला, " अब कहो तेजू, हारे कि नहीं? दादा हमारा इनका यह झगड़ा है कि यह कहते हैं, जो लड़के बचपन में बड़े शैतान होते हैं, वही बड़े होकर *सुसील* हो जाते हैं; और मैं कहता हूँ, जो लड़कपन में *सुसील* होते हैं, वही बड़े होकर भी *सुसील* रहते हैं। "[20]

दलितों की भाषा का प्रतिनिधि रूप स्त्री पात्र सलोनी की भाषा में देखा जा सकता है। सलोनी स्त्री है और दलित भी। जीवन के रस से सराबोर उसकी भाषा

का एक रूप उस समय देखा जा सकता है, जब समरकांत गाँव में पहुँचते हैं। सलोनी कहती है–

"कहाँ हो देवरजी, सावन में आते तो तुम्हारे साथ झूला झूलती, चले हो कातिक में! जिसका ऐसा सरदार और ऐसा बेटा, उसे किसका डर और किसकी चिन्ता। तुम्हें देखकर सारा दुःख भूल गयी देवरजी।"[21]

कथा भाषा की सफलता इस बात में होती है कि वह बिना मुखर हुए तनाव तथा मार्मिकता बढ़ाने में सक्षम हो। वह यथार्थ की कलात्मक प्रस्तुति तथा सम्प्रेषण करने में सक्षम हो। वर्णन तथा चित्रण में प्रेमचन्द की भाषा क्षमता देखने लायक होती है। यद्यपि 'कर्मभूमि' में वर्णन व चित्रण की कला के उदाहरण गोदान की अपेक्षा काफी कम हैं।

प्रतीकात्मक भाषा का इस्तेमाल प्रेमचन्द की कथा भाषा की विशेषताओं में से एक है। अमर और सुखदा अपने पिता का घर छोड़कर अलग रहने के लिए जाते हैं। रेणुका देवी वहाँ पहुचती हैं। उस समय का वर्णन द्रष्टव्य है–

"रात के आठ बज गये थे। हवा अभी तक गर्म थी। आकाश के तारे गर्द से धुँधले हो रहे थे। रेणुका पहुँची, तो तीनों निकलुए कोठे की चारपाई पर बराबर मन मारे बैठे थे। सारे घर में अंधकार छाया हुआ था।"[22]

वातावरण की गर्म हवा परिस्थिति की विषमता का प्रतीक है। सारे घर का अंधकार अमर के मन की निराशा को व्यक्त करता है। गर्द से धुंधले होते तारे निराशा में आशा की किसी भी संभावना को खारिज कर रहे थे। अमर और सुखदा के संबंधों की वास्तविकता भी लेखक ने इन शब्दों में व्यक्त की है, "अपनी मुट्ठी बंद करके, अपनी मिठाई आप खाकर वह, (अमर) उसे (सुखदा) को रुला देता था। वह भी अपनी मुट्ठी बंद कर लेती थी और अपनी मिठाई आप खाती थी।"[23] उन दोनों

के सम्बंधों को और अधिक स्पष्ट करने के लिए लेखक रेत और पानी का रूपक प्रस्तुत करता है, "दूध और पानी का मेल नहीं, रेत और पानी का मेल था।"[24]

चित्रण में प्रेमचन्द अलंकारिक भाषा का प्रयोग करते हैं। पहाड़ी गाँव में पूस की रात तथा अमर की वहाँ उपस्थिति का वर्णन अलंकारिक तथा प्रतीकात्मक भाषा में हुआ है–

"पूस की ठण्डी रात काली कमली ओढ़े पड़ी थी। ऊँचा पर्वत किसी विशाल महत्वाकांक्षा की भाँति, तारिकाओं का मुकुट पहने खड़ा था। झोपड़ियाँ जैसे उसकी छोटी–छोटी अभिलाषायें थीं जिन्हें वह ठुकरा चुका था।"[25] पूस की रात का ठण्डा तथा अन्धकारपूर्ण होना परिस्थिति की विषमता है जबकि ऊँचा पर्वत अपने जाति परिवार व ऐश्वर्य को छोड़ चुके अमर का प्रतीक है। अमर के व्यक्तित्व में आये विस्तार व बदलाव को यह अलंकार विधान पूरी तरह से स्पष्ट कर देता है।

गाँव का चित्रण करते हुए भाषा का सरस प्रयोग दिखाई देता है। पूरा का पूरा दृश्य मूर्तिमान हो उठा है। अपना घर परिवार छोड़कर अमर जिस पहाड़ी गाँव में रहता है उसका वर्णन करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा है "उत्तर की पर्वत श्रेणियों के बीच एक छोटा सा रमणीक पहाड़ी गांव है। सामने गंगा किसी बालिका की भांति हँसती, उछलती, नाचती, गाती, दौड़ती चली जाती है। पीछे ऊँचा पहाड़ किसी वृद्धयोगी की भांति जटा बढ़ाये, शान्त, गम्भीर, विचारमग्न खड़ा है। यह मानो उसकी बाल स्मृति है। आमोद–विनोद से रंजित, या कोई युवावस्था का सुनहरा मधुर स्वप्न। वह अब भी उन स्मृतियों को हृदय में भुलाए हुए, उस स्वप्न को छाती से चिपकाए हुए है।"[26]

जीवन में गहरी आस्था, आशा व विश्वास के बिना ऐसी भाषा का प्रयोग संभव नहीं है। यह केवल अभिव्यक्ति नहीं है बल्कि लेखक का अनुभव है जो लिखित रूप में हमारे सामने है। जीवन से गहरे परिचय तथा सहानुभूति का प्रकटीकरण भावपूर्ण होता है। ऐसी भावपूर्ण भाषा का उदाहरण 'कर्मभूमि' में देखा जा सकता है। लेखक

केवल जीवन की निराशा व कुशलता के यथार्थ का ही प्रस्तुतिकरण नहीं करता, बल्कि वह जीवन के उज्ज्वल तथा रसपूर्ण पक्ष को भी प्रस्तुत करता है। ऐसे अवसर पर भाषा सरल, स्पष्ट तथा सार्थक सी दिखायी देती है।

"सलोनी को अपने जीवन के सुनहरे दिनों में भी दो धोतियाँ मयस्सर न हुई थीं। पति और पुत्र के राज में भी एक धोती से ज्यादा कभी न मिली। और आज ऐसी सुन्दर दो–दो साड़ियाँ मिल रही हैं, जबरदस्ती दी जा रही हैं। उसके अंतःकरण से मानों दूध की धारा बहने लगी। उसका सारा वैधव्य, सारा मातृत्व, आशीर्वाद बनकर एक–एक रोम को स्पंदित करने लगा।"[27]

गरीब बुढ़िया जिसने सारा जीवन अभाव में काटा हो, उसे एक साथ दो धोतियाँ मिलने की खुशी का वर्णन लेखक की गहरी संवेदनशीलता तथा पर्यवेक्षण का नतीजा है।

बिम्ब अनुभव के टुकड़े की तरह होता है जो सम्प्रेषण के लिए अलग से किसी व्याख्या की जरूरत नहीं रखता। परंतु इस दिशा में सबसे बड़ी कठिनाई सटीक बिम्ब के चुनाव तथा अनुभव की संरचना को भाषा की संरचना में बदलकर बिम्ब बना देने की होती है। अमर के करीब रहकर मुन्नी के जीवन व्यवहार तथा उसकी स्थिति इन सबको लेखक ने एक बिम्ब के बहाने प्रस्तुत कर दिया है। उदाहरण द्रष्टव्य है–

"उसके (मुन्नी) जीवन की सूनी मुँडेर पर एक पक्षी न जाने कहाँ से उड़ता हुआ आकर बैठ गया था। उसे देखकर वह अंचल में दाना भरे आ! आ! कहती, पाँव दबाती हुई उसे पकड़ लेने के लिए लपककर चली । उसने दाना जमीन पर बिखेर दिया। पक्षी ने दाना चुगा, उसे विश्वास भरी आँखों से देखा मानों पूछ रहा हो–तुम मुझे स्नेह से पालेगी या चार दिन मन बहला कर फिर काटकर निराधार छोड़ दोगी; लेकिन ज्योंही पक्षी को पकड़ने के लिए हाथ बढ़ाया, पंक्षी उड़ गया और अब दूर की एक डाली पर बैठा हुआ उसे कपट भरी आंखों से देख रहा था, मानो कह रहा हो–मैं

आकाशगामी हूँ, तुम्हारे पिंजरे में मेरे लिए सूखे दाने और कुल्हिया में पानी के सिवा क्या था!"[28]

उपन्यास में सामाजिक आर्थिक व धार्मिक व्यवस्था की पात्रों व लेखक द्वारा अलग से आलोचना का कोई मतलब नहीं होता। आलोचना का यह तरीका उपन्यास को उसकी विधागत कला से दूर ले जाकर अखबार के करीब पहुँचा देता है। उपन्यास के कलारूप की रक्षा करते हुए सामाजिक आलोचना तथा यथार्थ का प्रस्तुतिकरण होना चाहिए। दलितों व स्त्रियों की दीनहीन स्थिति ही हमारी सामाजिक व्यवस्था की सबसे कड़ी आलोचना होती है। दलितों को मंदिर में प्रवेश न करने देने में भगवान के अपवित्र होने जाने की मानसिकता धार्मिक सत्ता प्रतिष्ठान के एजेंटों की आलोचना का सबसे बड़ा मानवीय तर्क है। ऐसी स्थिति में मुखर आलोचना तनाव को बढ़ाने और गहरा करने के बजाए उसे हल्का या कम कर देती है। सब कुछ तर्कों की भेंट चढ़ जाता है तथा निजी जीवन के अनुभव के तर्क अनुत्तरित रह जाते हैं। 'कर्मभूमि' में दलितों तथा किसानों के आन्दोलन की सफलता लेखक का अपना वैचारिक निष्कर्ष है, जबकि इतिहास के अनुभव का निष्कर्ष इसके विपरीत है, अर्थात् किसान व दलित आन्दोलन अब तक सफल नहीं हो सके थे।

फ्रेडरिक एंगेल्स ने 26 नवम्बर 1853 को मिन्ना काउत्सकी को एक पत्र में लिखा है "मैं सोचता हूँ कि प्रायोजन को स्वयं परिस्थिति तथा कार्यकलाप में अपने को व्यक्त करना चाहिये, विशेष रूप से लक्षित किये बिना, और लेखक अपने द्वारा वर्णित सामाजिक टकरावों का भावी ऐतिहासिक समाधान पाठक के सामने तैयारशुदा रूप में प्रस्तुत करने के लिए कर्त्तव्यबद्ध नहीं है।"[29]

प्रेमचन्द का उपन्यास 'कर्मभूमि' विशेष रूप से इस समस्या से ग्रस्त है जिसकी ओर एंगेल्स ने इशारा किया है। लेखक अपने पात्रों को अपने विचारों का प्रतिनिधि बनाकर प्रस्तुत करे और यह बतौर उपन्यासकार उसकी विफलता है। 'कर्मभूमि' में प्रेमचन्द इस समस्या का शिकार हैं। पश्चिमी शिक्षा पद्धति एवं धर्म की विसंगतियों के

प्रसंग में लेखक उन्हें परिस्थितियों के बीच में उभारने के बजाय पात्रों के विचारों द्वारा उभारने का प्रयास करता है। शिक्षा की आलोचना करते हुए लेखक खुद कहता है "हमारे शिक्षालयों में नर्मी को घुसने नहीं दिया जाता। वहाँ स्थायी रूप से मार्शल लॉ का व्यवहार होता है। कचहरी में पैसे का राज है, हमारे स्कूलों में भी पैसों का राज है. . . . यदि ऐसे शिक्षालयों से पैसे के लिए गरीबों का गला काटने वाले, पैसे के लिए अपनी आत्मा को बेचदेने वाले छात्र निकलते हैं, तो आश्चर्य क्या है?"[30]

प्रो0 शान्ति कुमार उसी बात को फिर दोहराते हैं "यह किराए की तालीम हमारे कैरेक्टर को तबाह किये डालती है। हमने तालीम को भी एक व्यापार बना लिया है। व्यापार में ज्यादा पूंजी लगाओ, ज्यादा नफा होगा। तालीम में भी खर्चा ज्यादा करो, ज्यादा ऊँचा ओहदा पाओगे।[31]

इसी क्रम में अमरकांत शिक्षा व्यवस्था की आलोचना करता है– "और एक यह अध्यापक हैं, जो किसी अंश में भी मामूली व्यापारी या राज्य–कर्मचारी से पीछे नहीं। इनमें भी वही दंभ है, वही धन मद वही अधिकार मद है। हमारे विद्यालय क्या हैं राज्य के विभाग हैं, और हमारे अध्यापक उसी राज्य के अंग।"[32]

शिक्षा की यह आलोचना अखबार के किसी लम्बे लेख का अंश लगती है ठीक यही स्थिति धर्म की आलोचना के साथ भी है। लेखक ने साम्प्रदायिक सद्भाव, सर्वधर्म समभाव के प्रतीक के रूप में अमर को प्रस्तुत किया है। धर्म के विषय में उपन्यास के विमर्श को अगर इकट्ठा रख दिया जाय तो वह 'सामाजिक शोषण में धर्म की भूमिका' विषय पर व्याख्यान की तरह लगता है। लाला समरकांत अमर को अपनी धार्मिकता के बारे में बताते हुए कहते हैं "जानते भी हो, धर्म क्या चीज है? साल में एक बार भी गंगा स्नान करते हो? एक बार भी देवताओं को जल चढ़ाते हो? कभी राम का नाम लिया है जिन्दगी में? कभी एकादशी या कोई दूसरा व्रत रखा है? कभी कथा पुराण पढ़ते या सुनते हो? तुम क्या जानो धर्म किसे कहते हैं।"[33]

इसके उत्तर में अमरकांत कहता है, "आप गंगास्नान, पूजा–पाठ को मुख्य धर्म समझे हैं, मैं सच्चाई, सेवा और परोपकार को मुख्य धर्म समझता हूँ। स्नान–ध्यान, पूजा–व्रत धर्म के साधन मात्र हैं, धर्म नहीं ।"[34]

अमरकांत द्वारा धर्म की यह आलोचना नवजागरण तथा धर्म सुधार की चेतना से प्रेरित है तथा प्रेमचंद ने समाज सुधारकों की बात को पात्र के माध्यम से रख दिया गया है। जाहिर है, साहित्य का काम इससे नहीं चलता है। धर्म की यह व्याख्या और आलोचना उस समय के समाज सुधार, धर्म सुधार की किसी पत्र–पत्रिका के लेख में मिल सकती है। एक तरह से यह उस समय धर्म की लोकप्रिय आलोचना या व्याख्या से अधिक कुछ नहीं है। सबसे बड़ी बात इसमें मार्मिकता जैसी कोई चीज नहीं है जो पाठक के भीतर असर पैदा करे। अक्सर इन विषयों पर पाठक सरसरी निगाह से देखते हुए आगे बढ़ जाता है। निश्चित तौर पर यह संरचनागत विफलता है।

धार्मिक सत्ता प्रतिष्ठान के औचित्य पर गूदड़ का एक मासूम सा प्रश्न पाठक को रूककर सोचने को विवश करता है। वह प्रश्न करता है "भगवान ने छोटे–बड़े का भेद क्यों लगा दिया?, इसका मरम समझ में नहीं आता। उनके तो सभी लड़के हैं। फिर सबको एक आंख से क्यों नहीं देखता?"[35] गूदड़ का यह प्रश्न धार्मिक व्यवस्था पर उसके किसी लम्बे अध्ययन या चिन्तन का निष्कर्ष नहीं बल्कि उसके निजी जीवन के अनुभव का तर्क है। समरकांत की जीवन पद्धति तथा उसका आदर्श पाठक को यह महसूस कराने में सक्षम है कि उनका धर्म आडम्बर मात्र है। वह किसी ईश्वरीय अनुभूति पर आधारित नहीं है। उसके बाद भी लेखक अपनी टिप्पणी करने के लोभ का संवरण नहीं कर पाता और पूरा एक पैराग्राफ उनके जीवन में धर्म की वास्तविकता पर अलग से लिख दिया "समरकांत का व्यवहारिक जीवन उनके धार्मिक जीवन से बिल्कुल अलग था। व्यवहार एवं व्यापार में वह धोखा–धड़ी, छल–प्रपंच, सब कुछ क्षम्य समझते थे। व्यापार नीति में सन या कपास में कचरा भर देना, घी में आलू या धुइयाँ मिला देना, औचित्य से बाहर न था, पर बिना स्नान किये मुँह में पानी न डालते थे। चालीस वर्षों में ऐसा शायद ही कोई दिन हुआ हो कि उन्होंने सन्ध्या

समय की आरती न ली हो और तुलसी दल माथे पर न चढ़ाया हो। एकादशी को बराबर निर्जल व्रत रखते थे। सारांश यह कि उनका धर्म आडम्बर मात्र था।"[36]

कर्मभूमि में प्रयुक्त सूक्तियों के उदाहरण –

1. दबा हुआ पुरूषार्थ ही स्त्रीत्व है (पृ0– 23)
2. भय की भाँति साहस भी संक्रामक होता है (पृ0–39)
3. शुभ उद्योग कुछ संक्रामक होता है (पृ0–172)
4. कायरता की भाँति वीरता भी संक्रामक होती है(पृ0–205)
5. पुरूषार्थ वह है जो समय को अपने अनुकूल बनाए(पृ0–255)
6. नेता में आत्मविश्वास, साहस और धैर्य ये मुख्य लक्षण हैं (पृ0–301)
7. आप अनीति पर अनीति से नहीं, नीति से विजय पा सकते हैं(पृ0–327)
8. रोने के लिए हम एकांत ढूंढते हैं, हँसने के लिए अनेकांत (पृ0– 379)

अनपढ़ या कम लिखे–पढ़े लोगों की भाषा की ताकत उनके द्वारा प्रयुक्त लोकोक्तियों और मुहावरों तथा स्थानीय व देशज शब्दों के प्रयोग के कारण प्रामाणिक व जीवंत हो उठती है। 'कर्मभूमि' में प्रयुक्त मुहावरे व लोकोक्तियों के उदाहरण–

"बड़े–बड़े तो धन की उपेक्षा नहीं कर सकते, तुम किस खेत की मूली हो!" (पृ0–27)

"वह सुखदा का मुँह जोहता रहता था।" (पृ0– 42)

"तुम उनकी कुछ मदद तो करते नहीं, उलटे और उनके लिए–कराए को धूल में मिलाने को तुले बैठे हो।" (पृ0– 43)

"मैं अपना मुँह सी लूँ।" (पृ0–43)

"जब अपने सिर पड़ेगी, तब आंखें खुलेंगी ।" (पृ0– 55)

"तुम नींबू–नोन चाटकर रह गये।" (पृ0– 55)

"ऐसी मोटी अक्ल के आदमी से ज्यादा बकवास करना व्यर्थ था।" (पृ0– 59)

"ऊँट पहाड़ के नीचे आकर अपनी ऊँचाई देख चुका था।" (पृ0–61)

"यह मुकद्दमा क्या हो गया, सारे घर के सिर जैसे भूत सवार हो गया। (पृ0– 75)

"घर फूँक तमाशा न देखना चाहिए।" (पृ0– 89)

"कोरा आदर्शवाद, खयाली पुलाव है।" (पृ0– 111)

"धोबी का कुत्ता, न घर का न घाट का।" (पृ0– 115)

"अमर की नानी मर रही थी।" (पृ0– 123)

"किसी से कुछ काम–धंधे के लिए कहा, या खुदा छप्पर फाड़कर देगा।" (पृ0–125)

"अमर मन में जल–भुनकर रह गया।" (पृ0– 128)

"बिच्छू का मंत्र न जाने, साँप के मुँह में ऊँगली डाले।" (पृ0– 136)

"जोरू न जाँता, अल्ला मियाँ से नाता।" (पृ0– 161)

"अब मेहरियों का राज है।" (पृ0– 171)

"भगवान भी उठा नहीं लेते कि गला छूट जाय। (पृ0– 179)

"आपका उस महान आत्मा पर छींटे उड़ाना छोटे मुँह बड़ी बात है।" (पृ0– 239)

"सुखदा लोहार की एक को सोनार की सौ से बराबर करने की असफल चेष्टा कर रही थी।" (पृ0– 239)

"इसकी आँख का पानी मर गया है।" (पृ0–240)

"चौधरी मोटे हो गये हैं और मोटे आदमी स्वार्थी हो जाते है।" (पृ0– 254)

"उस नक्कारखाने में तूती की आवाज कौन सुनता था।" (पृ0– 281)

"आज तो बड़े प्रसन्न हो भैया, प्याला मार आए क्या?"(पृ0– 288)

"आज मियाँ सलीम को आटे–दाल का भाव मालूम हुआ।" (पृ0– 296)

"यहाँ कुत्ते–खसी में आ फँसा।"– (पृ0– 296)

"सैयाँ भये कोतवाल अब डर काहे का।" (पृ0– 296)

"सोने की हँसिया न उगलते बनती थी, न निगलते।" (पृ0– 298)

"वह नजात को अपनी जनवासी चाल से आने का इंतजार नहीं कर सकते।"(पृ0–302)

"मैं चलूंगी तुम्हारे साथ देवरजी। उसे दिखा दूंगी कि बुढ़िया तेरी छाती पर मूँग दलने को बैठी हुई है।" (पृ0– 319)

अलंकारों का प्रयोग भाषा की मूर्तिविधायनी शक्ति को बढ़ाता है। 'कर्मभूमि' में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक व अनुप्रास अलंकारों का प्रयोग देखा जा सकता है। उदाहरण :–

उपमा–"अमरकांत उस पथिक की भांति, जिसने दिन विश्राम में काट दिया हो, अब अपने स्थान पर पहुंचने के लिए दूने वेग से कदम बढ़ाए चला जाता था।" (पृ0– 23)

उत्प्रेक्षा–"उसकी विलासप्रियता मानों खेतों में हौवे की भाँति उसे डराती रहती थी।" (पृ0– 28)

अनुप्रास–"सुखदा निर्मल नारीत्व की ज्योति में नहा उठी है।" (पृ0– 45)

उत्प्रेक्षा–"मुख पर ऐसा तेज था मानों, दीपक हो।" (पृ0– 66)

उपमा–"बालक ने उसकी नाक पकड़ ली और उसे निगल जाने की चेष्टा करने लगा, जैसे हनुमान सूर्य को निगल रहे हों।" (पृ0– 92)

उपमा–"अंधेरा जैसे मुँह खोले संसार को निगलने चला जा रहा था। (पृ0–265)

उत्प्रेक्षा–"बहुत दिनों के बाद आज उन्हें अपने भीतर आनन्द और प्रकाश का अनुभव हुआ, मानों चंद्रदेव के मुख से मेघों का आवरण हट गया हो।" (पृ0– 312)

उपमा–"एक घंटे बाद जब सुखदा यहाँ से मुन्नी के साथ चली, तो उसका मन आशा और भय से कांप रहा था, जैसे कोई बालक परीक्षा में सफल होकर अगली कक्षा में गया हो।" (पृ0– 316)

रूपकातिशयोक्ति– "वह (अमर) सिर से पाँव तक बारूद बना हुआ था, बिजली का जिन्दा तार।" (पृ0– 125)

रूपक–"पूस की ठंडी रात काली कमली ओढ़े पड़ी हुई थी।" (पृ0– 154)

शब्दों के प्रयोग में भी 'कर्मभूमि' में पर्याप्त विविधता है। स्थानीय देशज व तत्सम शब्दों के साथ अंग्रेजी के शब्दों का भी पर्याप्त प्रयोग हुआ है। जिस प्रकार अंग्रेजी के शब्द बोलचाल की शहरी भाषा का हिस्सा बन रहे थे। उसका उदाहरण 'कर्मभूमि' में देखा जा सकता है।

अंग्रेजी शब्दों के उदाहरण :

कॉलेज, मार्शल–लॉ (पृ0– 17) एसोसिएशन, स्पीच– (पृ0– 20) डिग्री (पृ0– 29) मीटिंग (पृ0– 30), मैट्रिकुलेशन (पृ0– 31), सूट, कमेटी (पृ0– 37), स्टेशन मास्टर (पृ0– 40), रेजिमेंट, सुपरिंटेंडेंट (पृ0– 41), फर्स्ट क्लास (पृ0– 63), मजिस्ट्रेट (पृ0– 67), प्रीवीकौंसिल (पृ0– 68), पुलिस (पृ0– 69), जज, मैडम, सिविल–सर्जन (पृ0– 76), डिमान्सट्रेशन (पृ0– 80), कैरेक्टर, यूनीवर्सिटी, गवर्नमेण्ट

(पृ0– 82), प्रोग्राम, बैंड (पृ0– 86), सोसाइटी (पृ0– 102), म्युनिसिपल बोर्ड, मेम्बर (पृ0– 114), अपील (पृ0– 123), मैच एड्रेस कन्वोकेशन (पृ0– 161), आइडियल (पृ0– 220), ट्रस्ट (पृ0– 223), गजट (पृ0– 225), हाईकोर्ट (पृ0– 250), वारण्ट (पृ0– 258), हार्न (पृ0– 259), सिगनल (पृ0– 263), रिजल्ट, कलक्टर, प्रिंसिपल (पृ0– 267), पोलिटिकल फिलासफी (पृ0– 291), इन्स्टीच्यूशन, लीडर (पृ0– 292), सेंट्रल जेल (पृ0– 307), मेट्रन (पृ0– 308) जेलर (पृ0– 335), रिवाल्वर (पृ0– 344), कान्सटेबल (पृ0– 345), निउट्रल, फार अगेन्स्ट, फायर (पृ0– 364) प्लाट (पृ0– 365) वार्डर (पृ0– 376), गवर्नर (पृ0– 377)।

तत्सम शब्दों के प्रयोग के उदाहरण :

शिक्षालय (पृ0– 17), मनस्विता, अनुग्रह (पृ0– 19), द्वेष, विमातृत्व, मातृत्व (पृ0– 22), पुरुषार्थ, स्त्रीत्व (पृ0– 23), विरक्त (पृ0– 27), उपार्जन (पृ0– 31), देवीत्व , निर्मल, नारीत्व (पृ0– 45), शास्त्रार्थ (पृ0– 47), सिंहावलोकन (पृ0– 51), सुरुचि (पृ0– 52), गर्त (पृ0– 59), स्निग्धता, वात्सल्य (पृ0– 116), सगर्व (पृ0– 118), माधुर्य (पृ0– 212), व्रतधारिणी (पृ0– 214), त्राण, क्रन्दन (पृ0– 326)।

तद्भव शब्दों का प्रयोग :

ताड़ना (पृ0– 35), गिरस्ती (पृ0– 55) बरखा (पृ0– 71), निरशस्त्र (पृ0– 104), सिकार, उमिर भगत (पृ0– 148) मरजाद, मरम (पृ0– 151) पूरब, पुरबज, मूरख, छत्तरी, बंस (पृ0– 152) नाही (पृ0– 153) जस (पृ0– 156) देस (पृ0– 163) बाम्हन सवाद, पच्छ (पृ0– 169) धरम, राच्छस (पृ0– 171) सासतर (पृ0– 196) सोनार (पृ0– 239) अपजस (पृ0– 281) सुसील, उदाहरन (पृ0– 320)।

देशज व स्थानीय शब्दों के उदाहरण :

आढ़त (पृ0– 21) ठीकरा (पृ0– 22) टिकौना, झौड़ (पृ0– 31) जोहना (पृ0– 42) घूस, रपट (पृ0– 55) मजूरी (पृ0– 55) पहलौंठी (पृ0– 62) मुटमरदी (पृ0– 115)

निखट्टू (पृ0– 117) खटला (पृ0– 120) बिलल्ले (पृ0–121) गोरू (पृ0– 135) दारू (पृ0– 148) मेहरिया (पृ0– 157) कनटोप (पृ0– 210) टेब (पृ0– 249) रहीस (पृ0– 251) दसखत (पृ0– 252), कंपेबाजी (पृ0– 267) हुल्लड़ (पृ0– 288) खप्पट (पृ0– 309) कनफुसकियाँ (पृ0– 377)।

अरबी–फारसी के शब्दों का प्रयोग हिन्दू और मुस्लिम पात्रों के भद्रवर्ग द्वारा हुआ है। सबसे बड़ी बात यह है कि सेवासदन की तरह क्लिष्ट अरबी–फारसी के शब्दों के बजाय केवल बोलचाल की भाषा में शामिल शब्द ही 'कर्मभूमि' में देखे जा सकते हैं– उदाहरण :

तारीख, जुर्माना (पृ0– 17) तर्जुमा, गैरियत (पृ0– 19) हिसाब, मजमून (पृ0– 20) मीयाद (पृ0– 27) सुफैदी (पृ0– 33) शरीक (पृ0– 41) मयस्सर (पृ0– 45) इजलास (पृ0– 69) तंदेही (पृ0– 90) शुबहा, बदगोई (पृ0– 97) खयालात, तकरीर, पाकीजा (पृ0– 101) शुमाली (पृ0– 102) विसाल (पृ0– 107) पाकदामनी, असमत, कैफियत (पृ0– 136) जलालतन (पृ0– 137) दिलबस्तगी (पृ0– 138) असबाब (पृ0– 176) मुस्तसना पेशीनगोई (पृ0– 225) तखमीना (पृ0– 228) वक्फ, पिदर, इनकलाब (पृ0– 270) मुफसिद (पृ0– 321) रिआया (पृ0– 341) काफिर (पृ0– 343) तसलीम (पृ0– 365) तारीकी (पृ0– 366) तौफीक, हकपरस्ती (पृ0– 367)।

आवृत्ति मूलक शब्दों के उदाहरण :

देश–विदेश, सीधे–सादे, चाल–चलन (पृ0– 34) फटा–पुराना (पृ0– 51) घर–गिरस्ती, हृष्ट–पुष्ट (पृ0–55) धर्म–कर्म (पृ0– 54) भोली–भाली (पृ0– 64) खरच–बरच (पृ0– 71) कपड़े–लत्ते, बरतन–भाँड़े, खाट–खटोली (पृ0– 123) आटा–वाटा (पृ0– 144) उलझे–बिखरे (पृ0– 145), बक–झक (पृ0– 147) अरज–मारुद (पृ0– 249) कौल–कसम (पृ0– 251) खून–खच्चर (पृ0– 281) धौल–धप्पा, हँसी–मजाक (पृ0– 303) गुन–सहूर (पृ0– 314) टीम–टाम (पृ0– 376)।

संदर्भ–सूची :

1. गुरुद्वारा सुधार व मंदिर प्रवेश आंदोलन – बिपिन चंद्र : भारत का स्वतंत्रता संघर्ष; पृ0–175
2. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–170
3. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–151
4. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–214
5. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–238
6. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–20–21
7. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–101–102
8. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–103
9. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–55
10. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–220
11. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–46
12. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–250
13. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–251
14. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–106–107
15. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–34
16. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–35
17. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–48
18. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–145
19. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–314
20. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–319–320
21. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–318
22. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–121
23. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–28–29

24. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–29

25. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–154

26. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–142

27. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–157

28. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–373–374

29. साहित्य तथा कला – मार्क्स . एंगेल्स; पृ0–104

30. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–17–18

31. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–82

32. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–110

33. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–54

34. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–54

35. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–151

36. कर्मभूमि – प्रेमचंद; पृ0–185

≈

चतुर्थ अध्याय

'गोदान' की भाषा : परिपक्वता का सवाल

'गोदान' प्रेमचंद का अंतिम और सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। 'गोदान' का प्रकाशन 1936 ई0 में हुआ। हिन्दी कथा साहित्य में यह 'मील के पत्थर' की तरह है। 'गोदान' का ऐतिहासिक 'परिप्रेक्ष्य' राष्ट्रीय आन्दोलन में दलितों और किसानों के सशक्त आन्दोलन का गवाह रहा है। सविनय अवज्ञा आन्दोलन से निकली ऊर्जा ने ब्रिटिश सरकार को 1935 में 'भारत सरकार अधिनियम' पास करने के लिए मजबूर कर दिया। 1936 ई. में लखनऊ में 'अखिल भारतीय किसान सभा' की स्थापना हुई। इस संदर्भ में आदित्य मुखर्जी ने लिखा है, "सविनय अवज्ञा आन्दोलन" ने किसान–आन्दोलन के अभ्युदय में एक और तरह से भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई– इसके गर्भ से युवा लड़ाकू राजनीतिक कार्यकर्ताओं की एक पूरी पीढ़ी पैदा हुई। उन्हें राजनीतिक दीक्षा तो सविनय अवज्ञा आन्दोलन के दौरान ही मिली, लेकिन धीरे–धीरे वे वामपंथी विचारधारा के प्रभाव में आते गये, जिसका प्रचार जवाहर लाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस, साम्यवादियों तथा अन्य मार्क्सवादी एवं वामपंथी नेताओं और ग्रुपों द्वारा किया जा रहा था। जब सविनय अवज्ञा आन्दोलन उतार पर आया, तो इन कार्यकर्ताओं के सामने, जिनमें युवक भी थे और युवतियां भी, सवाल उठा कि वे अपनी राजनीतिक ऊर्जा को कहा लगाएँ? नतीजा यह हुआ कि उनमें से बहुतों ने किसानों को संगठित करना शुरू कर दिया।"[1]

सन् 1934 ई0 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। राजनीति में वामपंथ का जोर बढ़ा। 'गोदान' का लेखन जिस समय हुआ उस समय देश में किसान आन्दोलन संगठित हुआ तथा उसका विस्तार हुआ। राजनीति में क्रांतिकारी तत्वों का दबाव बढ़ा।

इस ऐतिहासिक परिदृश्य में 'गोदान' का लेखन हुआ, लेकिन उसमें किसान आन्दोलन नहीं दिखायी देता। प्रेमचंद के दो उपन्यास 'प्रेमाश्रम' और 'कर्मभूमि' में किसान आन्दोलन है। ऐसी स्थिति में 'गोदान' में किसान आन्दोलन का न होना आश्चर्यजनक है।

प्रेमचंद अब तक आन्दोलनों की वास्तविकता को पहचान चुके थे। इसी कारण हीरा के घर की तलाशी के मुद्दे पर जब गाँव के लोग दारोगा को देने के लिए होरी को रूपये उधार देते हैं, तब धनिया कहती है–

"मैं सब जानती हूँ। यहाँ तो बाँट–बखरा होने वाला था, सभी के मुँह मीठे होते। ये हत्यारे गाँव के मुखिया हैं, गरीबों का खून चूसने वाले। सूद–ब्याज, डेढ़ी–सवाई, नजर–नजराना, घूस–घास जैसे भी हो गरीबों को लूटो। उस पर सुराज चाहिए। जेल जाने से सुराज न मिलेगा। सुराज मिलेगा, धरम से, न्याय से।"[2] इसके साथ ही राय साहब जो कि राष्ट्रीय आन्दोलन में जेल जा चुके हैं, वे खुद उसी साम्राज्यवादी औपनिवेशिक कृषितन्त्र के औजार के रूप में किसानों का शोषण करते हैं। पूँजीपति खन्ना भी राष्ट्रीय आन्दोलन में जेल जा चुके हैं, लेकिन मजदूरों का शोषण करने से उन्हें कोई परहेज नहीं। यह हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का सबसे बड़ा अन्तर्विरोध था कि राय साहब और खन्ना जैसे लोग अंग्रेजों के खिलाफ राष्ट्रीय आन्दोलन में हिस्सा ले रहे थे वही औपनिवेशिक सत्ता प्रतिष्ठान के औजार के तौर पर जनता का शोषण भी कर रहे थे। प्रेमचंद ने औपनिवेशिक कृषि तन्त्र में किसान की नियति को होरी के रूप में देख लिया था। जमींदार, पटवारी तथा सूदखोर महाजन के कुचक्र में फँसा भारतीय किसान होरी और धनिया की तरह जब तक जीता है, तबाह रहता है। यही 'गोदान' का निष्कर्ष है।

प्रेमचंद्र की संवेदना का विकास साम्राज्यवाद तथा सामंतवाद विरोधी चेतना की ओर हुआ। प्रेमाश्रम का किसान आंदोलन असंगठित होने के बाद भी जमींदार की हृदय परिवर्तन के साथ समाप्त होता है। कर्मभूमि में किसान आन्दोलन संगठित है। उसके बाद भी वह सफलता नहीं प्राप्त करता। इन दोनों ही उपन्यासों में प्रेमचंद जमींदारों को वैयक्तिक स्तर पर अच्छा तथा किसानों का हित करने वाला मानते हैं।

दलितों की समस्या को प्रेमचंद गांधीजी की तरह केवल छुआछूत की समस्या मानते थे। डॉ0 अम्बेडकर ने दलितों की समस्या को व्यवस्था में दलितों के अधिकारों

की समस्या बताया। डॉ0 अम्बेडकर ने भारतीय समाज व्यवस्था की कमियां दिखाकर दलितों को आत्मसम्मान की लड़ाई का रास्ता दिखाया। इसी प्रक्रिया में गांधीजी ने अछूतोद्धार का आन्दोलन चलाया। कर्मभूमि में प्रेमचंद ने दलितों की समस्या को छुआछूत की समस्या मानकर चित्रित किया है। लेकिन 'गोदान' में प्रेमचंद ने दलितों में दलितभाव के बोध की पहचान की है। कोई साहित्यिक कृति इस बात से महान नहीं बनती कि उसमें राजनीतिक चेतना कितनी है? या लेखक की विचारधारा कितनी क्रांतिकारी है? 'गोदान' में आन्दोलन न होने तथा 'प्रेमाश्रम' और 'कर्मभूमि' में आन्दोलन होने के बावजूद 'गोदान' 'प्रेमाश्रम' और 'कर्मभूमि' से श्रेष्ठ उपन्यास है। उपन्यास में लेखक ने जीवन की कितनी प्रामाणिक तथा सच्ची व मार्मिक तस्वीर प्रस्तुत की है, यही महत्वपूर्ण होता है। लेखक आने अनुभवों को कलारूप में जितना रूपायित कर पाता है उसकी रचना उतनी ही सफल होती है।

साहित्यिक रचना में भाषा का प्रश्न यथार्थ के बोध तथा उसके प्रस्तुतिकरण के कारण महत्वपूर्ण होता है। जीवन का विविधतापूर्ण चित्र प्रस्तुत करने के लिए लेखक के पास भाषा ही एक मात्र औजार होती है । भाषा के सहारे ही लेखक विभिन्न आयु, वर्ग, पात्रों तथा वातावरण का प्रामाणिक, मूर्त तथा सजीव चित्र प्रस्तुत करता है। 'गोदान' की कथा का फलक अत्यन्त विस्तृत है साथ ही इसमें जीवन का विविधतापूर्ण चित्र भी प्रस्तुत किया गया है। कथा संरचना में विविधता कथानक, पात्र तथा परिवेश में दिखायी देती है। 'गोदान' की भाषा का विभाजन पात्रों तथा लेखक की भाषा में किया जा सकता है। उसमें भी ग्रामीण कथा तथा शहरी कथा में पात्रों तथा लेखक की भाषा का स्वरूप अलग–अलग दिखायी देता है। ग्रामीण कथा में पुरुषों, स्त्रियों तथा बच्चों की भाषा में अन्तर है। लेखक अपने पात्रों के भाषा प्रयोग के प्रति सादगी रखता है। शहरी पात्रों की भाषा में विविधता के तत्व ग्रामीण पात्रों की भाषा की तरह नहीं हैं। व्यक्ति किताब के बजाय जीवन के अनुभवों से भाषा का ज्यादा गहरा बोध हासिल करता है। प्रेमचंद के अनपढ़ तथा कम पढ़े–लिखे पात्रों की भाषा इसका प्रमाण है। प्रेमचंद के शहरी पात्रों की भाषा किताबी भाषा है।

प्रेमचंद की भाषा के सारे आदर्श 'गोदान' में व्यवहृत होते दिखायी देते हैं। 'गोदान' में उनकी भाषा उर्दूपन से पूरी तरह से मुक्त है। उसका बोलचाल का स्वरूप सरलता व स्पष्टता के गुणों से युक्त है। पाण्डेय भूषण शीतांशु ने प्रेमचंद की कथा–भाषा के विकास पर ठीक टिप्पणी की है– ''उर्दू से हिन्दी में आने के कारण उनके आरंभिक उपन्यासों में यद्यपि कुछ कठिन उर्दू की झाँकियाँ जगह–जगह देखने को मिलती हैं; पर 'गोदान' तक आते–आते उनकी भाषा इस दृष्टि से पूरी तरह संयमित और व्यवस्थित हो जाती है। जीवन, यथार्थ की पकड़ के मायने में वे बड़े संवेदनशील कथाकार हैं। बोलचाल की सादगी से भरे हिन्दी–गद्य को प्रवाह देने, जीवन की नाना मुद्रात्मक और विविध कथ्यात्मक अभिव्यक्ति से भरी हिन्दी के सहज सम्प्रेक्षण राष्ट्रभाषा रूप का रचाव करने और एक स्तरीय उन्नत कथा–भाषा का स्वभाव निश्चित करने की दृष्टि से प्रेमचंद की भाषिक शक्ति–क्षमता का महत्व हिन्दी साहित्य में स्थायी है। उन्होंने हिन्दी कथा–साहित्य को जो भाषा मुहैया की है उसकी सभी सर्जनात्मक संभावनाओं का स्वयं अपने साहित्य में प्रयोग–उपयोग भी कर लिया है। 'गोदान' में उनकी यह कथा–भाषा कथ्य की ऋद्धि से कला की सिद्धि तक की भाषा बन गयी है। उन्होंने संवेदनशीलता, स्थितिगत वास्तव की समझ, शब्दार्थ सजगता और समान्तरता जैसे कलात्मक कौशल के सहारे अपनी कथा–भाषा का विन्यास किया है।''[3]

प्रेमचंद के साहित्य को पढ़ते हुए ऐसा लगता है कि प्रेमचंद के उपन्यासों में कथात्मक यथार्थ भाषा व संवेदना के स्तर पर गहराई से जुड़ा हुआ है। उनकी कहानी कला की ताकत 'गोदान' में दिखायी देती है। इसके अलावा कविता व नाटक के तत्वों का प्रयोग भी महत्वपूर्ण है। 'गोदान' की कलात्मकता का कारण संभवतः उसके कहानीपन में है। किस्सागोई की भाषा का प्रयोग 'गोदान' में सबसे अधिक तथा सुन्दरता से हुआ है। पात्रों के परिचय परिवेश का वर्णन करते समय लेखक की किस्सागोई क्रमशः पात्र तथा परिवेश को मूर्तिमान कर देती है। 'गोदान' में लेखक ने

किस्सागोई के दोनों तत्वों वर्णन व चित्रण का कलात्मक उपयोग किया है। वर्णन में लेखक के हस्तलाघव का उदाहरण द्रष्टव्य है–

"भोला का पुरवा था तो छोटा मगर बहुत गुलजार। वहाँ अधिकतर अहीर ही बसते थे। अन्य किसानों की अपेक्षा उनकी दशा बहुत बुरी न थी। भोला गांव का मुखिया था। द्वार पर बड़ी सी चरनी थी, जिसपर दस–बारह गायें– भैंसें खड़ी सानी खा रही थीं। ओसारे में एक बड़ा तख्त पड़ा था, जो शायद दस आदमियों से भी उठता। किसी खूँटी पर ढोलक लटक रही थी, किसी पर मजीरा, एक ताख पर कोई पुस्तक बस्ते में बंधी रखी हुई थी, जो शायद रामायण हो।"[4]

एक अहीर किसान के गांव–घर का चित्रण करते हुए लेखक ने अत्यन्त सावधानी से काम लिया है। पूरा दृश्य एकदम मूर्तिमान हो उठा है। परिवेश निर्माण भी प्रेमचंद की कथा भाषा की महत्वपूर्ण विशेषता है। पात्र जिस परिवेश तथा परिस्थिति में जी रहा है वह उसके प्रतिकूल है तथा उसकी पीड़ा को बढ़ाने वाला है। परिवेश, परिस्थिति तथा पात्र की तनावपूर्ण सहस्थिति निम्नांकित उदाहरण में देखी जा सकती है –

"चारो ओर नीरव अंधकार छाया हुआ था। दोनों बैलों के गले की घंटिया– कभी–कभी बज उठती थीं। दस कदम पर मृतक गाय पड़ी हुई थी और होरी घोर पश्चाताप में पड़ा करवटें बदल रहा था। अंधकार में प्रकाश की रेखा कहीं नजर न आती थी।"[5]

पूरा दृश्य पाठक के भीतर दर्ज हो जाता है। सरल वाक्यों में निर्मित यह दृश्य पाठक को हिला देता है। किसान की स्थिति औपनिवेशिक कृषितन्त्र में लगातार खराब हो रही थी। प्रेमचंद का लेखन इसकी सूचना देता है। 'पूस की रात' कहानी में हल्कू रात में खेत पर जाता है। रात ठंडी थी पर हल्कू के पास आग, तमाखू और कुत्ता था। 'गोदान' में जब होरी खेत की रखवाली करने जाता है उस समय का वर्णन द्रष्टव्य है– "माघ के दिन थे। मघावट लगी हुई थी। घटाटोप अँधेरा छाया

हुआ था। एक तो जाड़ों की रात, दूसरे माघ की वर्षा। मौत का सन्नाटा छाया हुआ था। अँधेरा तक न सूझता था। होरी भोजन करके पुनिया के मटर के खेत की मेंड पर अपनी मड़ैया में लेटा हुआ था। चाहता था शीत को भूल जाय और सो रहे; लेकिन तार–तार कम्बल और फटी हुई मिर्जई और शीत के झोंकों से गीली पुआल। इतने शत्रुओं के सम्मुख आने का नींद में साहस न था। आज तमाखू भी न मिला कि उसी से मन बहलाता। उपला सुलगा लाया था पर शीत में वह भी बुझ गया।"[6]

लगातार बदहाल होता किसान लेखक की गहरी सहानुभूति का पात्र बन गया है। बिम्बात्मकता और प्रतीकात्मकता काव्य भाषा की विशेषताएँ होती हैं। कविता में प्रतीक तथा बिम्ब का प्रयोग कथ्य के संश्लिष्ट रूप में सम्प्रेषण के लिए किया जाता है। कथा में भी यथार्थ के संश्लिष्ट रूप के सम्प्रेषण के लिए प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग जरूरी हो जाता है। 'गोदान' में अभिधात्मक भाषा का अतिक्रमण कर लेखक ने प्रतीकात्मक और बिम्बात्मक भाषा का प्रयोग किया है। प्रतीकात्मक भाषा का उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

"और कम्बल उसके (होरी) के जन्म से पहले का है। बचपन में अपने बाप के साथ वह इसी में सोता था, जवानी में गोबर को लेकर इसी कम्बल में उसके जाड़े कटे थे और बुढ़ापे में आज वहीं बूढ़ा कम्बल आज उसका साथी है, पर वह भोजन को चबाने वाला दाँत नहीं, दुखने वाला दाँत है।"[7]

कम्बल भारतीय किसान को मिली खेती की विरासत का प्रतीक है। अपने बाप से मिली विरासत अब भी होरी के साथ है। वह विरासत आज उसे सुख के बजाय दुःख दे रही है। खेती को अपनी मरजाद, अपनी आस्था तथा जीवन की आशा का केन्द्र मानने वाला किसान आज उससे निराश है।

कथा–भाषा के व्यवस्थित–परिष्कृत तथा संश्लिष्ट उदाहरण के रूप में 'गोदान' का निम्नांकित उद्धरण देखा जा सकता है–

"वैवाहिक जीवन के प्रभात में लालसा अपनी गुलाबी मादकता के साथ उदय होती है और हृदय के सारे आकाश को अपने माधुर्य की सुनहरी किरणों से रंजित कर देती है। फिर मध्याह्न का प्रखर ताप आता है; क्षण–क्षण पर बगूले उठते हैं और पृथ्वी काँपने लगती है। लालसा का सुन्दर आवरण हट जाता है और वास्तविकता अपने नग्न रूप में सामने आ खड़ी होती है। उसके बाद विश्राममय संध्या आती है, शीतल और शान्त, जब हम थके हुए पथिकों की भाँति दिन–भर की यात्रा का वृत्तान्त कहते और सुनते हैं, तटस्थ भाव से मानो हम किसी ऊँचे शिखर पर जा बैठे हैं, जहाँ नीचे का जन–रव हम तक नहीं पहुँचता है।"[8]

व्यंग्य करने में प्रेमचंद की भाषा की शक्ति देखने लायक होती है। व्यंग्य करते समय लेखक अपनी सरल अभिधात्मक भाषा का त्याग कर व्यंजना शब्द–शक्ति का सहारा लेता है। उदाहरण द्रष्टव्य है–

"दातादीन अपनी जवानी में स्वयं बड़े रसिया रह चुके थे; लेकिन अपने नेम–धर्म से कभी नहीं चूके । मातादीन भी सुयोग्य पुत्र की भाँति उन्हीं के पद–चिह्नों पर चल रहा था। धर्म का मूल तत्त्व है, पूजा–पाठ, कथा–व्रत, और चौका–चूल्हा। जब पिता–पुत्र दोनों ही मूल तत्त्व को पकड़े हुए हैं, तो किसी की क्या मजाल है कि उन्हें पथ–भ्रष्ट कह सके।"[9]

गाय 'गोदान' में एक पात्र की तरह उपस्थित है। उसकी उपस्थिति जीवंत होने के साथ–साथ प्रतीकात्मक भी है। वैसे तो होरी की हैसियत बकरी खरीदने की भी नहीं है लेकिन कृषि संस्कृति पर आधारित भारतीय समाज में गाय किसान की शारीरिक तथा सामाजिक शक्ति का स्रोत होती है। अभावों से जूझ रहे किसान की खाद्य जरूरत तो गाय पूरी ही करती है, साथ में वह उसके 'द्वार की शोभा' भी होती है। द्वार की यह शोभा किसान की सामाजिक स्थिति का पैमाना भी होती है। गाय का वर्णन द्रष्टव्य है–

"कबरी गाय पूंछ से मक्खियां उड़ाती, सिर हिलाती, मस्तानी, मन्द–गति से झूमती चली जाती थी, जैसे बाँदियों के बीच कोई रानी हो।"[10] होरी के घर गाय का आगमन एक महत्वपूर्ण घटना की तरह वर्णित है–

"होरी श्रद्धा–विह्वल नेत्रों से गाय को देख रहा था, मानो साक्षात देवीजी ने घर में पदार्पण किया हो। आज भगवान ने यह दिन दिखाया कि उसका घर गऊ के चरणों से पवित्र हो गया। यह सौभाग्य! न जाने किसके पुण्य–प्रताप से ।"[11] गाय की उपमा लेखक ने वधू से दी है। "गाय मन मारे उदास बैठी थी, जैसे कोई वधू ससुराल आयी हो।"[12]

अपने पात्रों का परिचय तथा चरित्र चित्रण करते हुए प्रेमचंद की भाषा सूचनात्मक हो जाती है। वे अपने पात्र की आयु, उसकी शारीरिक बनावट, मानसिक स्तर तथा उसकी सामाजिक स्थिति की सूचना देते हैं। पात्रों का यह ब्यौरा अत्यन्त सूक्ष्म तथा यथार्थपरक होता है। उदाहरणार्थ–

"सोना उम्र से किशोरी, देह के गठन से युवती ओर बुद्धि से बालिका थी, जैसे उसका यौवन उसे आगे खींचता था, बालपन पीछे। . . . . लम्बा रूखा, किन्तु प्रसन्न मुख, ठूड़ी नीचे को खिंची हुई, आंखों में एक प्रकार की तृप्ति न केश में तेल, न आंखों में काजल, न देह पर कोई आभूषण, जैसे गृहस्थी के भार ने यौवन को दबा दिया हो।"[13]

'गोदान' में पात्रों की भाषा को शहरी तथा ग्रामीण दो हिस्सों में बांटा जा सकता है। शहरी पात्रों में शिक्षित वर्ग के डॉक्टर, पत्रकार तथा प्रोफेसर हैं । दूसरे वर्ग में मिल मालिक या पूँजीपति हैं। तीसरे वर्ग में शहर में मजदूरी करने आये ग्रामीण पात्र हैं। ग्रामीण पात्रों में किसान, जमींदार, दुकानदार, महाजन तथा सरकारी अमले हैं। शहरी पात्रों की भाषा शुष्क, नीरस व उबाऊ है। उसमें तद्भव, देशज व स्थानीय शब्दों के स्थान पर तत्सम, अंग्रेजी व अरबी–फारसी के शब्द दिखाई देते हैं। दूसरी बात यह कि शहरी पात्रों की भाषा में वह विविधता नहीं है, जो ग्रामीण पात्रों

की भाषा में है। ग्रामीण पात्र भले ही एक गांव में रहते हैं लेकिन उनकी भाषा में उनके व्यक्तित्व, आयु तथा उनकी सामाजिक स्थिति और लिंग के आधार पर फर्क दिखायी देता है। शहरी पात्रों की भाषा में यह संवेदनशील अंतर नहीं दिखाई देता है। शहरी पात्रों की भाषा कृत्रिम है। उनके संवादों में वाक्य लम्बे–लम्बे हैं तथा मिश्रित वाक्यों की योजना है। कुल मिलाकर शहरी भाषा सर्जनात्मक नहीं बन पायी है। शहरी और ग्रामीण पात्रों की भाषा का अन्तर संभवतः लेखक के ग्रामीण तथा शहरी जीवन से परिचय तथा सहानुभूति के मात्रा के अन्तर के कारण है।

'गोदान' की वाक्य–रचना की विशिष्टता पर कमलकिशोर गोयनका ने लिखा है– "'गोदान' की वाक्य–रचना लेखक के समृद्ध एवं सशक्त भाषा अधिकार का प्रमाण है। पूर्व उपन्यासों के समान 'गोदान' में भी लघु वाक्यों का सौन्दर्य विद्यमान है। लेखक ग्रामीण कथा के वर्णन में छोटे–छोटे वाक्यों का प्रयोग करता है। ग्रामीण पात्र भी अपनी प्रकृति के अनुरूप छोटे–छोटे वाक्यों में वार्तालाप करते हैं। नगर के शिक्षित पात्र अपने स्वभाव और शिक्षा–दीक्षा के कारण बड़े–बड़े मिश्र वाक्यों का प्रयोग करते हैं।"[14]

शहरी कथा में पात्रों की भाषा तथा लेखक की भाषा में अन्तर है। पात्रों की भाषा में मुहावरेदानी नहीं है लेकिन लेखक की भाषा में मुहावरेदानी के तत्व देखे जा सकते हैं। लेखक ने मि0 तंखा का परिचय ऐसी ही भाषा में दिया है–

"मिस्टर तंखा दांव–पेंच के आदमी थे, सौदा पटाने में, मुआमला सुलझाने में, अड़ंगा लगाने में, बालू से तेल निकालने में, गला दबाने में, दुम झाड़कर निकल जाने में बड़े सिद्धहस्त। कहिये रेत में नाव चला दें, पत्थर पर दूब उगा दें।"[15]

खन्ना की मिल में आग लगने का वर्णन अलंकारिक भाषा में द्रष्टव्य है– "अग्नि की उन्मत्त लहरें एक–पर–एक, दाँत पीसती थी, जीभ लपकाती थीं जैसे आकाश को निगल जायेंगी। उस अग्नि समुद्र के नीचे ऐसा धुआँ छाया था, मानो सावन की घटा कालिख में नहाकर नीचे उतर आयी है। उसके ऊपर आग का

थरथराता हुआ, उबलता हुआ हिमाचल खड़ा था। . . . . ईंटे जल रही थीं, लोहे के गर्डर जल रहे थे और पिघली हुई शक्कर के पर नाले चारों तरफ बह रहे थे। और तो और जमीन से भी ज्वाला निकल रही थी।"[16]

यह उदाहरण लेखक की भाषा का है। शहरी पात्रों की भाषा के उदाहरण देखे जा सकते हैं। शहरी पात्रों द्वारा सतही सपाट व नीरस भाषा के प्रयोग 'गोदान' की कथा भाषा की सबसे बड़ी कमजोरी है। प्रो० मेहता की भाषा का उदाहरण द्रष्टव्य है–

"पुरुष में नारी के गुण आ जाते हैं, तो वह महात्मा बन जाता है, नारी में पुरुष का गुण आ जाते हैं, तो वह कुलटा हो जाती है। पुरुष आकर्षित होता है स्त्री की ओर जो सर्वांश में स्त्री हो। मालती ने अभी तक मुझे आकर्षित नहीं किया है। संसार में जो कुछ सुन्दर है, उसी की प्रतिमा को मैं स्त्री कहता हूँ।"[17] मेहता का यह कथन बातचीत के क्रम में है, लेकिन यह बात–चीत के टुकड़े के बजाय व्याख्यान का टुकड़ा लगता है। यह वक्तव्य मेहता की भाषा के साथ–साथ प्रेमचंद की स्त्री चेतना का भी पता देता है। उनके लिए स्त्री का सुन्दरता के बाहर कोई अस्तित्व नहीं है। इसके विपरीत मालती समझती है कि मेहता जैसे पुरुषों को कैसी औरतों की जरूरत है? वह कहती है "ऐसी ही लौंडियाँ मर्दों को पसन्द आती हैं, जिनमें और कोई गुण हो या न हो, उनकी टहल–दौड़ दौड़कर प्रसन्न मन से करें और अपना भाग्य सराहें कि इस पुरुष ने मुझसे यह काम करने को कहा। वह देवियाँ हैं, शक्तियाँ हैं, विभूतियाँ हैं . . . . ।"[18]

मेहता की भाषा एक बुद्धिजीवी की भाषा है जो समस्याओं पर खाली बैठकर व्यवस्थित ढंग से विचार करता है। अतः उसके कथनों की वाक्य रचना व्यवस्थित है। मालती की भाषा मर्दों की दुनियां में औरत के होने का अर्थ महसूस करती हुई स्त्री की भाषा है। अतः उसमें बेचैनी है। मेहता के वक्तव्य की रचना राय देने की प्रक्रिया में है जबकि मालती के कथन में बेचैनी व आलोचना का रचाव व्यक्त हुआ है। 'गोदान' के मुस्लिम पात्र मिर्जा खुर्शेद की भाषा सेवासदन या कर्मभूमि के मुस्लिम

पात्रों की तरह नहीं है। मिर्जा खुर्शेद की भाषा में अरबी, फारसी तथा अंग्रेजी के शब्द हैं जो बोल–चाल में शहरी भद्रवर्ग के बोलचाल की भाषा का हिस्सा बन गये थे। मिर्जा खुर्शेद की भाषा इसी का उदाहरण है–

"मुझे अब इस डेमाक्रेसी में भक्ति नहीं रही। जरा सा काम और महीनों की बहस! हाँ! जनता की आँखों में धूल झोंकने का अच्छा स्वांग है. . . मैं तो यह सारा तमाशा देखकर कौंसिल से बेजार हो गया हूँ। जिसे हम डिमाक्रेसी कहते हैं, वह व्यवहार में बड़े–बड़े व्यापारियों और जमींदारों का राज्य है, और कुछ नहीं।"[19]

'गोदान' के अन्य शहरी पात्रों मि0 खन्ना, मि0 तंखा व पत्रकार ओंकार नाथ की भाषा का स्वरूप अलग नहीं हैं। यद्यपि अफगान का अभिनय करते हुए मेहता की भाषा तथा शराब पिये हुए ओंकार नाथ की भाषा अवश्य ही अलग है। शराब पिये हुए सम्पादक ओंकारनाथ की भाषा देखने लायक है–

"सम्पादक जी ने लाल, पर ज्योतिहीन नेत्रों से देखा– तुम हमारी तारीप क्यों की? क्यों की? बोलो क्यों हमारी तारीप की? हम किसी का नौकर नयीं है। किसी के बाप का नौकर नयीं है, किसी साले का दिया नहीं खाते। हम खुद सम्पादक है। हम 'बिजली' का सम्पादक है। हम उसमें सबका तारीप करेगा। देवीजी, हम तुम्हारा तारीप नयीं करेगा। हम कोई बड़ा आदमी नयीं है। हम सबका गुलाम है। हम आपका चरण–रज है। मालती देवी हमारी लक्ष्मी, हमारा सरस्वती, हमारी राधा. . . ."[20]

खन्ना पूँजीपति हैं। उनकी भाषा में व्यापारिक शब्दावलियाँ तथा अंग्रेजी के वाक्य तक मिल जाते हैं। उनकी भाषा का उदाहरण देखा जा सकता है–

"खन्ना ने एक मिनट तक धुँआ निकालने के बाद कहा– बैंक की जो स्थिति है, वह मैंने आपके सामने रख दी। बैंक ने एक तरह से लेन–देन का काम बन्द कर दिया है। मैं कोशिश करूँगा कि आपके साथ खास रिआयत की जाय; लेकिन Business is business यह आप जानते हैं। पर मेरा कमीशन क्या रहेगा? मुझे आपके लिए खास

तौर पर सिफारिश करनी पड़ेगी; राजा साहब का अन्य डाइरेक्टरों पर कितना प्रभाव है यह आप भी जानते हैं।"[21]

ग्रामीण पात्रों में राय साहब, सरकारी अमले, दुकानदार, महाजन, किसान और दलित हैं। इतना ही नहीं, भाषा की संरचना में स्त्री व पुरुष पात्रों के लिहाज से भी फर्क देखा जा सकता है। पुरुष पात्र भी शब्दों में बिगड़े व अपभ्रष्ट रूपों का प्रयोग करते हैं; लेकिन स्त्री पात्र उन्हें और बिगाड़ कर बोलते हैं। भाषा का पात्र की सामाजिक स्थिति से गहरा रिश्ता होता है । प्रेमचंद के यहाँ इस विशेषता की रक्षा हुई है। डॉ0 गोपाल राय ने लिखा है "पुरुष पात्र अधिक से अधिक 'शिक्षा' को 'सिच्छा', 'जन्म' को 'जनम' और 'नीलाम' को 'लिलाम' बोलते हैं। पर स्त्री पात्र उन्हें अपनी उच्चारण सुविधा के अनुसार 'छिच्छा', 'जलम' और 'लिल्लाम' में परिणत कर देते हैं।"[22]

होरी व धनिया की भाषा में धनिया की भाषा ज्यादा सशक्त तथा वक्र है। होरी की भाषा में उसके किसान होने की मजबूरी दिखायी देती है जबकि धनिया की भाषा में आलोचना का स्वर होने के कारण, भाषा प्यारी, आकर्षक व तीखी हो गयी है। होरी की भाषा का उदाहरण द्रष्टव्य है–

"तू जो बात समझती नहीं है, उसमें टांग क्यों अड़ाती है भाई। मेरी लाठी दे दे और अपना काम देख। यह इसी मिलते–जुलते रहने का परसाद है कि अब तक जान बची हुई है, नहीं कहीं पता न लगता कि किधर गये।"[23]

धनिया की भाषा का उदाहरण द्रष्टव्य है। वह होरी से कहती है –

"मैं अभी जाकर पूछती हूँ न कि तुम्हारे बाप कितने रूपये छोड़कर मरे थे? डाढ़ी जारों के पीछे हम बरबाद हो गये ! सारी जिन्दगी मिट्टी में मिला दी, पाल पोसकर सण्डा किया और; और अब हम बेईमान हैं।"[24]

गाय के मरने पर होरी धनिया से अपना सन्देह हीरा पर प्रकट करता है तो वह व्यग्र हो उठती है। उसकी भाषा में प्रतिकार करने की बेचैनी है। वह निम्नांकित उदाहरण में देखी जा सकती है–

"धनिया आवेश में बोली– अनर्थ नहीं, अनर्थ का बाप हो जाये। मैं बिना लाला को बड़े घर भिजवाये मानूँगी नहीं। तीन साल चक्की पिसवाऊँगी, तीन साल। वहाँ से छूटेंगे, तो हत्या लगेगी। तीरथ करना पड़ेगा। भोज देना पड़ेगा। इस धोखे में न रहें लाला! और गवाही दिलवाऊँगी तुमसे, बेटे के सिर पर हाथ रखकर।"[25]

इसी प्रकार दुलारी सहुआइन की भाषा का उदाहरण भी देखा जा सकता है–

"–बाकी बड़ी गाल–दराज औरत है भाई ! मरद के मुंह लगती है। होरी ही जैसा मरद है कि इसका निबाह होता है। दूसरा मरद होता तो एक दिन न पटती।"[26]

सोना और सिलिया की भाषा का उदाहरण द्रष्टव्य है –

सोना कहती है "आज महाजन नालिश करके लिल्लाम करा ले, तो कल मजूरी करनी पड़ेगी, तो कन्या का धरम यही है कि डूब मरे। घर की जमीन–जैजात तो बच जायेगी, रोटी का सहारा तो रह जायेगा।. . .

सिलिया को जान पड़ा जैसे उसकी आँख में नयी ज्योति आ गयी है। आवेश में सोना को छाती से लगाकर बोली– तूने इतनी अक्कल कहाँ से सीख ली सोना? देखने में तो तू बड़ी भोली–भाली है।"[27]

सिलिया का बेटा रामू अभी दो–ढ़ाई साल का है । उसकी तोतली बोली भी यहाँ देखी जा सकती है –

"कोई पूछता– "तुम्हारा नाम क्या है?"

चटपट कहता– लामू

"तुम्हारे बाप का क्या नाम है?"

"मातादीन"

"और तुम्हारी माँ का?"

"छिलिया।"

"और दातादीन कौन है?"

"वह अमाला छाला है।"[28]

इसी प्रकार सोना और रूपा की भाषा का उदाहरण भी देखा जा सकता है। सोना–रूपा की भाषा तोतली तो नहीं है, पर उस भाषिक संरचना में बाल मनोविज्ञान अवश्य छिपा हुआ है।

ग्रामीण जीवन के सारे पात्रों की भाषा एक जैसी हो, ऐसा नहीं है। लाला पटेश्वरी की भाषा में उर्दूपन की झलक है; क्योंकि वे पटवारी हैं। ग्रामीण पात्रों में पं0 दातादीन की भाषा में शब्दों के तद्भव रूप आते हैं, लेकिन लाला पटेश्वरी, ठाकुर तथा पं0 नोखेराम की भाषा में उतनी मिलावट नहीं है। उनकी भाषा किसानों की भाषा से उनकी हैसियत की तरह अलग है। रायसाहब की भाषा किसानों की भाषा से एकदम अलग शहरी पात्रों की भाषा की तरह है। उदाहरण द्रष्टव्य है–

"दुनिया समझती है कि हम बड़े सुखी हैं। हमारे पास इलाके, महल, सवारियाँ, नौकर–चाकर, कर्ज, वेश्यायें, क्या नहीं हैं, लेकिन जिसकी आत्मा में बल नहीं, अभिमान नहीं, वह और चाहे कुछ हो, आदमी नहीं है। जिसे दुश्मन के भय के मारे रात को नींद न आती हो, जिसके दुख पर सब हँसें और रोने वाला कोई न हो, जिसकी चोटी दूसरे के पैरों के नीचे दबी हो, जो भोग–विलास के नशे में अपने को बिल्कुल भूल गया हो, जो हुक्काम के तलवे चाटता हो और अपनें अधीनों का खून चूसता हो, उसे मैं सुखी नहीं कहता। वह तो संसार का सबसे अभागा प्राणी है।"[29]

रायसाहब की भाषा में अपने वर्चस्व को बनाये रखने की चालाकी साफ पढ़ी जा सकती है, जिसे वे अपनी मजबूरी के रूप में पेश करते हैं।

पं0 दातादीन की भाषा का उदाहरण भी देखा जा सकता है। दातादीन झिंगुरी सिंह से कहता है– "समय–समय की परथा है और क्या! किसी में उतना तेज हो तो। बिस खाकर उसे पचाना तो चाहिए। वह सतजुग की बात थी, सतजुग के साथ गई । अब तो अपना निवाह बिरादरी के साथ मिलकर रहने में है; मगर क्या करूँ, कोई लड़की वाला आता ही नहीं। तुमसे भी कहा, औरों से भी कहा; कोई नहीं सुनता तो मैं क्या लड़की बनाऊँ?"[30]

लाला पटेश्वरी पटवारी हैं। उनकी भाषा में भी तद्भव और देशज शब्द हैं लेकिन उतने नहीं, जितने होरी, धनिया तथा पं0 दातादीन की भाषा में हैं। सरकारी नौकर की सामाजिक हैसियत गाँव में थोड़ी ऊँची होती है, अतः उनकी भाषा भी गाँव वालों की तुलना में परिष्कृत है। उदाहरण द्रष्टव्य है–

"पटेश्वरी ने नारियल का कश लगाते हुए कहा– यही तो इनमें बुराई है कि चार पैसे देखे और आँखें बदलीं। आज होरी ने ऐसी हेकड़ी जताई कि मैं अपना सा मुँह लेकर रह गया। न जाने अपने को क्या समझता है! अब सोचो, इस अनीति का गाँव में क्या फल होगा? झुनिया को देखकर दूसरी विधवाओं का मन बढ़ेगा कि नहीं? आज भोला के घर में यह बात हुई, कल हमारे–तुम्हारे घर में भी होगी। समाज तो भय के बल से चलता है। आज समाज का आँकुस जाता रहे, फिर देखो संसार में क्या–क्या अनर्थ होने लगते हैं?"[31]

रामसेवक महतो है तो ग्रामीण पात्र, लेकिन शहरी सम्पर्क तथा आर्थिक दशा अच्छी होने के कारण उसकी भाषा में अंग्रेजी के बिगड़े शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है। उदाहरण द्रष्टव्य है–

"थानेदार और कानिसटिबिल तो जैसे उसके दामाद है। जब उनका दौरा गाँव में हो जाय, वह उनका आदर–सत्कार करें, नजर–नयाज दें, नहीं एक रिपोर्ट में गाँव–का–गाँव बँध जाय। कभी कानूनगो आते हैं, कभी तहसीलदार, कभी डिप्टी, कभी जण्ट, कभी कलक्टर, कभी कमिसनर।. . . .एक डाक्टर कुओं में दवाई डालने

आने लगा है। एक दूसरा डाक्टर कभी–कभी आकर ढोरों को देखता है, लड़कों का इंतहान लेने वाला इसपिट्टर है, न जाने किस–किस महकमे के अफसर हैं, नहर के अलग, जंगल के अलग, ताड़ी–सराब के अलग, गाँव सुधार के अलग, खेती विभाग के अलग।"[32]

गालियों का प्रयोग ग्रामीण हिन्दी भाषी जनता की भाषिक चेतना का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा होता है। 'गोदान' में हीरा पुनिया को मारता है तो वह उसे गालियाँ देती है। उदाहरण देखा जा सकता है–

"पुन्नी हाय–हाय करती जाती थी और कोसती जाती थी– 'तेरी मिट्टी उठे, तुझे हैजा हो जाय, तुझे मरी आये, देवी मैया तुझे लील जायँ, तुझे इन्फ्लुएंजा हो जाय। भगवान करे तू कोढ़ी हो जाय। हाथ–पाँव कट–कट गिरें।"[33]

पात्रों की भाषा के अलावा ग्रामीण कथा की संरचना में लेखक ने अपनी कलम की ताकत का प्रमाण दिया है। पात्र की मनोदशा तथा उसके व्यवहार का सूक्ष्म तथा संश्लिष्ट चित्र द्रष्टव्य है। धनिया होरी को काफी जली–कटी सुनाती है। क्रोध में होरी की दशा का चित्र उल्लेखनीय है :–

"होरी चुपचाप सुनता रहा। हिला तक नहीं। झुझलाहट हुई, क्रोध आया, खून खौला, आंख जली, दांत पिसे; लेकिन बोला नहीं। चुपके से कुदाल उठायी और ऊख गोड़ने चला।"[34]

डॉ0 गोपाल राय ने प्रेमचंद के इस भाषा–प्रयोग की प्रशंसा करते हुए लिखा है, "यह उदाहरण भाषा की अभिधा शक्ति के चरम उत्कर्ष का नमूना है। विवश क्रोध की इतनी सटीक अभिव्यक्ति अन्यत्र देखने को नहीं मिलती। दो–दो शब्दों में एक–एक अनुभाव को मूर्त्त कर देना प्रेमचंद की भाषा क्षमता का प्रमाण है। ऐसी भाषा रीतिकाल के बिहारी के दोहों में ही देखने को मिलती है।"[35]

गाँव में गोबर एक नाटक करता है जिसमें जमींदार तथा किसान के संवाद का दृश्य है। प्रेमचंद की भाषा में नाटक की भाषा का प्रयोग देखने लायक है। जमींदार किसान के हाथ में पाँच रूपये देता है तो किसान पूछता है :–

"यह तो पाँच ही हैं मालिक।"

"पाँच नहीं, दस है, घर जाकर गिनना।"

"नहीं सरकार पाँच हैं।"

"एक रूपया नजराने का हुआ कि नहीं?"

"हाँ, सरकार!"

"एक तहरीर का"

"हाँ, सरकार!"

"एक कागद का?"

"हाँ सरकार !"

"एक दस्तूरी का !"

"हाँ सरकार!"

"एक सूद का?"

"हाँ सरकार !"

"पाँच नकद, दस हुए कि नहीं?"

"हाँ, सरकार !. . . . ."[36]

'गोदान' की भाषा प्रेमचंद की संवेदना के विकास की तरह अपने चरम पर पहुँची हुई है। यहाँ लेखक ने भाषा प्रयोग के मामले में काफी किफायत से काम लिया है, आवश्यक वर्णन से परहेज किया है। 'गोदान' में प्रेमचंद की भाषा की

संवेदनशीलता को स्पष्ट करते हुए पाण्डेय शशिभूषण शीतांशु ने लिखा है– "प्रेमचंद भाषा के मायने में बहुत संवेदनशील कथाकार हैं। आँखों की भाषा की प्रेमचंद को बड़ी पहचान है। कहीं उनका रचनाकार 'ईर्ष्या–भरी आँखों की भाषा' को सामने लाता है, तो कहीं 'आँखों में रस भर कर कहने की भाषा' का प्रत्यक्ष कराता है।"[37]

रूपा की शादी होरी के हमउम्र रामसेवक महतो से करने के प्रश्न पर होरी और धनिया के बीच सांकेतिक भाषा का उदाहरण देखा जा सकता है–

"दो दिन गुजर गये और इस मामले पर उन लोगों में कोई बात–चीत न हुई। हाँ, दोनों सांकेतिक भाषा में बातें करते थे।

धनिया कहती– वर–कन्या जोड़े के हों तभी ब्याह का आनन्द है।

होरी जवाब देता– ब्याह आनन्द का नाम नहीं है पगली, यह तो तपस्या है।

"चलो, तपस्या है?"

हाँ, मैं कहता जो हूँ। भगवान् आदमी को जिस दशा में डाल दें, उसमें सुखी रहना तपस्या नहीं, तो और क्या है?"[38]

ग्रामीण पात्रों की भाषाओं में प्रयुक्त तद्भव शब्दों के उदाहरण :

असनान, परसाद (पृ0–5), दरसन, सुभाव (पृ0–8), परान (पृ0–18), तीरथ, बरत, सोभा (पृ0–24), सरबस (पृ0–35), कलसा (पृ0–35), लच्छन, आसीरबाद, आसमान (पृ0–39), परेम (पृ0–41), धरम (पृ0–42), आसा, सर्बस (पृ0–47), अरथ (पृ0–48), सम्पत, विपत (पृ0–49), लच्छमी (पृ0–109), बन्स (पृ0–113), आँकुस (पृ0–119), छन (पृ0–123), परतिष्ठा (पृ0–128), सराप, मुकुत (पृ0–131), चाम (पृ0–138), रकत (पृ0–157), अनीत, रच्छा (पृ0–218), सरन (पृ0–231), परथा (पृ0–252), परोजन (पृ0–253), नियाव (पृ0–255),

अन्तरजामी (पृ0–262), दुरदशा (पृ0–266), सान्त (पृ0–268), पौरुख (पृ0–302), परतच्छ (पृ0–305), बाम्हन (पृ0–305)।

'गोदान' में प्रयुक्त तत्सम शब्दों के उदाहरण :

स्वामी (पृ0–30), मध्याह्न, माधुर्य (पृ0–33), श्रद्धा (पृ0–38), एकांगी (पृ0–43), मनोद्‌गार, निग्रह (पृ0–58), समष्टि (पृ0–62), यज्ञ (पृ0–63), निष्फल, उच्छृङ्‌खलता, विलीन (पृ0–67), शिरोधार्य, धर्म (पृ0–70), चरण–रज, वैचित्र्य (पृ0–71), निस्पन्द, वटवृक्ष (पृ0–79), विकलता (पृ0–81), दर्शन–तत्त्व (पृ0–85), विभूति (पृ0–89), इष्ट (पृ0–119), पुण्यात्मा (पृ0–128), अभिसार, उन्मत्त, उद्‌दीप्त, शावक (पृ0–136), गद्‌गद (पृ0–142), सभानेत्री (पृ0–162), सृष्टि (पृ0–163), संस्कृति (पृ0–167), क्रीड़ा, कुत्सित (पृ0–168), कदाचित् (पृ0–172), हितार्थ (पृ0–175)।

संभ्रांत पात्रों की भाषा में प्रयुक्त अंग्रेजी शब्दों के उदाहरण :

इन्फ्लुएंजा (पृ0–32), मेम्बर, रिकार्ड (पृ0–54), हियर (पृ0–56), मैनेजिंग डाइरेक्टर (पृ0–57), फिलासफी (पृ0–58), गवर्नमेंट (पृ0–60), गवर्नर (पृ0–68), डेपुटेशन (पृ0–68), काउन्सिल, मेम्बर (पृ0–73), पालिसी, फार्म (पृ0–95), डेमॉक्रेसी (पृ0–96), प्रोपेगण्डा (पृ0–97), एजेण्ट, चेयरमैन (पृ0–99), अल्टिमेटम (पृ0–138), आइडियलिस्ट, मेटीरियलिस्ट (पृ0–144), परसेण्ट, एलेक्शन, कौंसिल (पृ0–146), इंश्योरेंन्स, हाफटाइम (पृ0–147), कम्पेनियन (पृ0–150), प्रोनोट (पृ0–160), लेडी (पृ0–161), हण्टर (पृ0–170), Business is Business (पृ0–240), मिस्टर (पृ0–242), Three cheers for Rai Sahib Hip, Hip Hurrah! (पृ0–243), डिग्री (पृ0–276), ग्रामोफोन (पृ0–310), डारलिंग (पृ0–345)।

शहरी पात्रों की भाषा में अरबी–फारसी के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

लियाकत, मुनहसर (पृ0–93), काफिया (पृ0–117), सुर्खरू (पृ0–132), हलाल (पृ0–145), मुआमले (पृ0–146), अदावत (पृ0–149), बेमुरौवत, रोशन खयाल, बेजबानी (पृ0–150), कौल (पृ0–155), तकल्लुफ (पृ0–162), तकरीर (पृ0–165), मातबर (पृ0–173), मुरौवत (पृ0–176), लौंडी (पृ0–194), दीवानखाना (पृ0–194), उज्र (पृ0–201), असबाब (पृ0–208), नजराने, तहरीर, दस्तूरी (पृ0–222), बख्तर, निसाखातिर (पृ0–229), मसलहत (पृ0–232), जेरबार (पृ0–238), मुसक (पृ0–251), खुर्रमी (पृ0–268), गालिब (पृ0–294), लाजिम (पृ0–323), अहलकार (पृ0–327), बइगोई, खादिम (पृ0–329), परदानशीन (पृ0–332), तौफीक (पृ0–338)।

'गोदान' में प्रयुक्त आवृत्तिमूलक शब्दों के उदाहरण :

मिलते–जुलते (पृ0–5), साली–सलहज (पृ0–6), सूखे–बूड़े (पृ0–10), सेंत–मेंत, भोला–भाली(पृ0–20), खाट–वाट (पृ0–21), रस–वस (पृ0–22), लेना–देना, धरना उठाना, सँभालना–सहेजना, झाड़ू–बुहारू, चौका–बरतन, तीरथ–बरत (पृ0–24), सूद–ब्याज, डेंढ़ी–सवाई, नजर–नजराना, घूस–घास (पृ0–117), दौड़–धूप, खेती–बारी (पृ0–119), अलल्ले–तलल्ले (पृ0–236), कार–परोजन (पृ0–253), खुशी–खुर्रमी (पृ0–268), इज्जत–आबरू (पृ0–271), चिरौरी–बिनती (पृ0277), लल्लो–चप्पो (पृ0–302)

'गोदान' में मुहावरे व लोकोक्तियों के भी प्रयोग हुए हैं। उदाहरण दृष्टव्य हैं :

1. "बिन घरनी घर भूत का डेरा" (पृ0–9)
2. "मन भाय मुड़िया हिलाय वाले भाव से बोली– मैं उनके बखान की भूखी नहीं हूँ, अपना बखान धरे रहें।" (पृ0–21)

3. "यह तो अच्छा नहीं लगता कि अन्धे कूकर की तरह हवा को भूँका करें।"(पृ0–42)

4. "दुष्ट कहीं गड़े मुर्दे न उखाड़ने लगें, नहीं यह सारा सौभाग्य स्वप्न की भांति शून्य में विलीन हो जाएगा।" (पृ0–69)

5. "हीरा के सिर हत्या सवार है, न जाने क्या कर बैठे।" (पृ0–113)

6. "गोबर ने तो मुँह में कालिख लगा दी, उसकी करनी क्या पूछते हो!" (पृ0–122)

7. "पाँव भारी है, कहीं डर–डरा जाय, तो और आफत हो।" (पृ0–124)

8. "कहीं पीठ में धूल न लगने देते थे ।" (पृ0–128)

9. "यही कह रहा था कि धनिया के साथ क्या तुम्हारी बुद्धि भी घास खा गयी?" (पृ0–129)

10. "सदा सिर झुकाकर चलता और चार बातें गम खा लेता था।" (पृ0–129)

11. "मुँह धो रखो ।" (पृ0–132)

12. "पत्थर पड़ गया था उनकी अक्कल पर और उन्हें क्या कहूँ?" (पृ0–134)

13. "आपकी नीति में घरवालों को ही उलटे छुरे से हलाल करना चाहिए।" (पृ0–145)

14. "आँखों का पानी मर गया है। (पृ0–158)

15. "वह तो जैसे घाव पर नमक छिड़कते थे। (पृ0–161)

16. "मैं खन्ना को अपनी जूतियों की नोक के बराबर भी नहीं समझती।" (पृ0–171)

17. "धोबी का कुत्ता, न घर का न घाट का ।" (पृ0–198)

18. "मेरे तो परान नहों में समा गये थे।" (पृ0–210)

19. "एक गुलाब जामुन रूपा के लिए ऊँट के मुँह में जीरे के समान था।" (पृ0–212)

20. "अम्माँ, जुलाहे का गुस्सा डाढ़ी पर न उतारो।" (पृ0–232)

21. "पीठ में धूल भी नहीं लगने देता, लेकिन परिस्थिति जबान बन्द किये हुए थी।" (पृ0–237)

22. "दूध का जला छाँछ भी फूँक–फूँक कर पीता है।" (पृ0–237)

23. "अमरपाल सिंह नर्म चारा नहीं हैं।" (पृ0–238)

24. "क्यों घाव पर नमक छिड़क रही हो मालती!" (पृ0–248)

25. "चुल्लू–भर पानी में डूब नहीं मरती!" (पृ0–255)

26. "मुट्ठी भर अनाज के लिए उसका पानी उतार लिया।" (पृ0–255)

27. "होरी का खून आज खौल उठा।" (पृ0–261)

28. "उसके द्वार पर अच्छे–अच्छे नाक रगड़ते हैं, धनिया, तू क्या जाने!" (पृ0–264)

29. "अब मालूम हुआ कि वह बाँस की कैन है।" (पृ0–265)

30. "नेकी करके दरिया में डाल देती हैं।" (पृ0–301)

31. "सरोज उसके पाँव की धूल भी नहीं है।" (पृ0–327)।

'गोदान' में अलंकारों के प्रयोग के उदाहरण :

उपमा–

1. "कबरी गाय, पूँछ से मक्खियाँ उड़ाती, सिर हिलाती मस्तानी मन्द–गति से झूमती चली जाती थी, जैसे बाँदियों के बीच में रानी हो।" (पृ0–12)

2. "और रूपवती स्त्री की भाँति सभी के हाथों का खिलौना बनते हैं।" (पृ0–15)

3. "झुनिया द्वार पर खड़ी थी, मत्त आशा की भाँति अधीर, चंचल।" (पृ0–27)

4. "गाय मन मारे उदास बैठी थी, जैसे कोई वधू ससुराल आयी हो।" (पृ0–42)

5. "उस कुमार में भी पत्ता खड़कते ही किसी सोये हुए शिकारी जानवर की तरह यौवन जाग उठा।" (पृ0–47)

6. "प्रतिभा तो गरीबी में ही चमकती है, दीपक की भाँति, जो अंधेरे में ही अपना प्रकाश दिखाता है।" (पृ0–54)

7. "लोभ किसी लोहे की धरन की तरह छत को सँभाले हुए था।" (पृ0–102)

8. "गोबर कहाँ गया? यह प्रश्न उसके (होरी) के हृदयाकाश में किसी पक्षी की भाँति मँडराने लगा।"(पृ0–126)

9. "होरी के खेत किसी अनाथ अबला के घर की भाँति सूने पड़े थे।" (पृ0–182)

10. "हारे हुए महीप की भाँति उसने (होरी) अपने को इन तीन बीघे के किले में बन्द कर लिया था।" (पृ0–356)।

रूपक :

1. "कैसा शुभ होगा वह दिन, जब यह कामधेनु उसके (होरी) द्वार पर बँधेगी।"(पृ0–12)

उत्प्रेक्षा :

1. "आमदनी और अधिकार में जौ भर की भी कमी न होने पर भी उनका यश मानो बढ़ गया था।" (पृ0–12–13)

2. "गोबर जब अकेला गाय को हाँकता हुआ चला, तो ऐसा लगता था, मानो स्वर्ग से गिर पड़ा हो।" (पृ0–53)

3. "घोड़ा दूर निकल गया तो चारो सज्जन लौटे, इस तरह मानो किसी प्रियजन का संस्कार करके श्मशान से लौटे हों।"(पृ0–118)

4. "आज उन दोनों में जो बातें हुई थीं, वह मानो भूखे का भोजन थी।" (पृ0–121)

5. "बिरादरी का वह आतंक था कि अपने सिर पर लाद कर अनाज ढो रहा था, मानो अपने हाथों अपनी कब्र खोद रहा हो। (पृ0–132)

6. "वह (सिलिया) दौड़–दौड़ कर अनाज ओसा रही थी, मानो तन–मन से कोई खेल खेल रही हो।"(पृ0–253)

7. "एक–एक शब्द उसके मुँह से निकल पड़ा, मानो ग्रामोफोन में भरी हुई आवाज हो. . . सोना के चेहरे पर भीषण संकल्प खेल रहा था, मानो खून सवार हो।" (पृ0–310)

अनुप्रास :

1. "सिलिया, साँवली, सलोनी, छरहरी बालिका थी।"(पृ0–253)

दृष्टान्त :

1. "भेड़ियों ने भेड़ों की निरीहता का जवाब सदैव पंजे और दाँतों से दिया है। (पृ0–316)

"गोदान" की भाषा में प्रेमचंद के उपन्यासों की कथा–भाषा का प्रतिनिधि रूप दिखायी देता है। प्रेमचंद की भाषा और औपन्यासिक शिल्प के अन्तःसम्बन्धों को रामस्वरूप चतुर्वेदी ने सबसे ठीक पहचाना है। वे लिखते हैं– "प्रेमचंद का रचनात्मक मूल्यांकन कई कारणों से समस्या उपस्थित करता है। वे पाठक को जितना सहज हैं, आलोचक को उतना ही मुश्किल। उनकी कथाकृतियाँ घटना और अनुभव–बहुल दोनों हैं। यहीं प्रेमचंद आलोचक के लिए मुश्किल हैं ।. . . . प्रेमचंद अपनी रचना–प्रक्रिया में भाषा का सम्पूर्णतः दोहन कर लेते हैं, फलतः आलोचक के लिए ऐसी भाषा–छवियाँ, संकेत शेष नहीं बचते जिनके सहारे वह उस रचना में आगे अर्थ का सम्वर्द्धन कर सके।"[39]

संदर्भ–सूची :

1. 1930–40 के दशक का किसान आन्दोलन – आदित्य मुखर्जी : भारत का स्वतंत्रता संघर्ष; पृ0–278
2. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–117
3. गोदान के बहाने प्रेमचंद की कथा–भाषा की पहचान – पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु' : कथाकार प्रेमचंद – सं0 रामदरश मिश्र और ज्ञानचंद गुप्त; पृ0–90
4. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–25
5. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–111
6. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–120–121
7. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–121
8. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–33
9. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–252
10. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–12
11. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–38
12. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–42
13. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–36
14. प्रेमचंद के उपन्यासों का शिल्प–विधान – कमल किशोर गोयनका, पृ0–475
15. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–96
16. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–297
17. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–150–151
18. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–89
19. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–96–97
20. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–71
21. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–240
22. गोदान : नया परिप्रेक्ष्य – गोपाल राय; पृ0–178

23. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–5

24. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–44

25. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–111

26. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–45

27. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–265

28. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–351

29. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–15

30. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–252–253

31. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–129

32. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–360

33. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–32

34. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–96

35. गोदान : नया परिप्रेक्ष्य – गोपाल राय; पृ0–167

36. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–223

37. गोदान के बहाने प्रेमचंद की कथा–भाषा की पहचान – पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु' : कथाकार प्रेमचंद – सं0 रामदरश मिश्र और ज्ञानचंद गुप्त; पृ0–91

38. गोदान – प्रेमचंद; पृ0–359

39. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास – रामस्वरूप चतुर्वेदी; पृ0–140

उपसंहार

उपन्यास की 'कथा–भाषा' के स्वरूप की विशिष्टता कविता, कहानी, नाटक से अलग इन सभी के सर्जनात्मक तत्त्वों से मिलकर बनती है। उपन्यास भले ही तन्त्रगत ढंग से इन सबसे भिन्न होता है, लेकिन सम्प्रेषण के लिए वह कविता, नाटक तथा कहानी की भाषा के गुणों को आत्मसात करता है। कथा–भाषा की विशिष्टता यथार्थ के अनुभव को कला रूप में बदलकर सम्प्रेषित करने तथा जीवन की सच्ची, प्रामाणिक व मार्मिक तस्वीर प्रस्तुत करने में निहित होती है।

प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यासों की 'कथा–भाषा' खड़ी बोली हिन्दी गद्य तथा हिन्दी नवजागरण के साथ विकसित हुई। अतः संवेदना के स्तर पर नवजागरण की देशोत्थान, समाज–सुधार तथा व्यक्ति–निर्माण की चेतना केन्द्र में थी; तो व्यवस्थित हो रही खड़ी बोली हिन्दी में स्थानीय, देशज शब्दों तथा मुहावरों और लोकोक्तियों द्वारा भाषा को सर्जनात्मक बनाने की चेतना भी थी। यह जरूर है कि उस समय उपन्यासकारों का ध्यान समाज सुधार तथा मनोरंजन की तरफ ही था। भाषा के व्यवस्थित न होने के कारण भाषा प्रयोग के प्रति जागरूक होने के बाद भी लेखक सर्जनात्मक भाषा का प्रयोग नहीं कर सके।

प्रेमचन्द उर्दू से हिन्दी में आये थे। इस प्रसंग में 'उर्दू–हिन्दी' विवाद तथा भाषा का साम्प्रदायिक आधार महत्वपूर्ण था। 'सेवासदन' की भाषा उसी परिदृश्य में निर्मित हुई है, अतः उसमें ये तत्त्व देखे जा सकते हैं।

समाज सुधार पर केन्द्रित होने के कारण सेवासदन में जीवन का चित्रण विविधतापूर्ण नहीं हो पाया है। इसी कारण भाषा में विविधता नहीं आ पायी है। उसके बाद भी लेखक ने मार्मिक स्थलों को पहचान कर भाषा की सर्जनात्मकता का प्रमाण दिया है। प्रतीकात्मकता, बिम्बात्मकता व अलंकारिक भाषा का प्रयोग लेखक की भाषा पर जबर्दस्त पकड़ के प्रमाण हैं।

'सेवासदन' में हिन्दू पात्र हिन्दी बोलते हैं तथा मुस्लिम पात्र उर्दू, वह भी अरबी–फारसी के क्लिष्ट शब्दों से बोझिल जिसे बिना शब्दकोश के हिन्दी का पाठक समझ नहीं सकता।

'सेवासदन' में भाषा का कोई वर्गीय तथा सामाजिक आधार भी स्पष्ट नहीं हो सका है। जीतन कहार की भाषा में केवल दो शब्द 'उमिर' और 'मलकिन' ऐसे हैं, जो उसकी सामाजिक स्थिति का पता देते हैं।

'कर्मभूमि' तक आते–आते भाषा का साम्प्रदायिक आधार छीज चुका था। भाषा का वर्गीय तथा सामाजिक आधार स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगता है। शहरी तथा ग्रामीण पात्रों के बीच अंतर तो है ही। शहरी पात्रों में भी पढ़े–लिखे भद्रवर्ग, कम पढ़े–लिखे, निम्नवर्गीय तथा महिला पात्रों की भाषा में भी अंतर है। इसी प्रकार ग्रामीण पृष्ठभूमि के पात्रों में स्त्रियों–पुरुषों व बच्चों की भाषा में अंतर है। राजनीतिक चेतना के कारण यह उपन्यास मुखर हो उठा है तथा बिखर सा गया है। बेवजह के वक्तव्य तथा मत लेखक ने पात्रों द्वारा अपने विचारों के प्रतिनिधि के तौर पर प्रस्तुत किया है; जो कतई जरूरी नहीं था। लेखक की मंशा परिस्थितियों, प्रसंगों तथा चरित्रों की विसंगतियों के भीतर से उपजनी चाहिए न कि लेखक या पात्रों के मुँह से।

'गोदान' तक आकर प्रेमचन्द की कथा–भाषा व्यवस्थित हो चुकी थी। यहाँ तक की यात्रा में भाषा का कच्चापन समाप्त हो चुका है। इसी प्रकार गोदान की भाषा प्रेमचन्द की संवेदना तथा उपन्यास कला के उत्कर्ष की तरह शिखर पर दिखाई देती है। प्रेमचन्द की कथा–भाषा का विकास उनकी संवेदना तथा उपन्यास के शिल्प के साथ विकसित हुई है। प्रेमचन्द की भाषा में प्रामाणिकता तथा सर्जनात्मकता लोकोक्तियों, मुहावरों, सूक्तियों तथा देशज, स्थानीय व तद्भव शब्दों, अलंकारों और यथावश्यक अंग्रेजी, अरबी तथा फारसी शब्दों के प्रयोग से आयी हुई है। पात्रों की शहरी या ग्रामीण पृष्ठभूमि, उनकी आयु, उनकी सामाजिक स्थिति के अनुसार भाषा के प्रयोग की सावधानी प्रेमचन्द की कथा–भाषा की मुख्य विशेषता हैं। प्रेमचन्द की

कहानी–कला उनकी उपन्यास–कला से श्रेष्ठ है। अतः जहां उनके उपन्यासों में कहानीपन आ गया है वहाँ उनके उपन्यासों की भाषा में भी गहराई आ गई है। किसानों, ग्रामीण स्त्रियों, दलितों, बच्चों तथा पशुओं से संबंधित प्रसंगों में प्रेमचन्द की भाषा सबसे अधिक मार्मिक हो उठी है। इसका कारण इन सबसे लेखक का गहरा परिचय तथा सहानुभूति का होना है।

प्रेमचन्द के लिए भाषा साहित्य–सृजन का माध्यम ही नहीं थी, भारत की राष्ट्रीय अस्मिता का एक अनिवार्य तथा आवश्यक घटक भी थी। अतः भाषा के बोलचाल के स्वरूप के प्रति उनका आग्रह जबर्दस्त रहा और उनकी भाषा की सर्जनात्मकता भी बोलचाल की भाषा में ही दिखाई देती है।

≈

संदर्भ-ग्रन्थ सूची

आधार–ग्रंथ :

प्रेमचंद – *कर्मभूमि,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पेपरबैक्स संस्करण–1999

प्रेमचंद – *गोदान,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पेपरबैक्स संस्करण–1999

प्रेमचंद – *सेवासदन,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पेपरबैक्स संस्करण–1997

सहायक–ग्रंथ :

अज्ञेय – *सर्जना और संदर्भ,* नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1985

अज्ञेय (सं0) – *सामाजिक यथार्थ और कथा–भाषा,* नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1986

अज्ञेय – *संवत्सर,* नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1978

उपाध्याय, अयोध्या सिंह 'हरिऔध', – *अधखिला फूल,* द्वारकादास, हिन्दी साहित्य कुटीर, वाराणसी, 1907

कुमार, कृष्ण (सं0) – *हिन्दी कथा साहित्य : परख और पहचान,* विभूति प्रकाशन, दिल्ली, 1987

कुमार, जैनेन्द्र – *प्रेमचंद एक कृती व्यक्तित्व,* पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, 1989

किशोर, नवल – *आधुनिक उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता,* प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, 1977

खन्ना, त्रिलोकीनाथ – *गोदान : संरचनात्मक विश्लेषण,* के.एल.पचौरी प्रकाशन, दिल्ली, 1985

खत्री, देवकीनन्दन – *चन्द्रकांता,* लहरी बुक डिपो, बनारस, 1932

गुप्त, गणपति चंद्र – *साहित्य का वैज्ञानिक विवेचन,* नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1971

गुप्त, धर्मेन्द्र – *समकालीन जीवन संदर्भ और प्रेमचंद*, पीयूष प्रकाशन, दिल्ली, 1980

गुप्त, शीला – *प्रेमचंद और उनका साहित्य*, साहित्य भवन, इलाहाबाद, 1972

गोयनका, कमल किशोर – *प्रेमचंद के उपन्यासों का शिल्प–विधान*, सरस्वती प्रेस, दिल्ली, 1974

चतुर्वेदी, रामस्वरूप – *हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1999

जैन, निर्मला (सं0) – *हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास* (भाग–12), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 1953

तलवार, वीर भारत – *रस्साकशी*, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, 2002

तलवार, वीर भारत – *राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य*, हिमाचल पुस्तक भण्डार, दिल्ली, 1993

तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद (सं0)– *प्रेमचंद*, कीर्ति प्रकाशन, गोरखपुर, 1980

तुलसीदास – *रामचरितमानस*, गीता प्रेस, गोरखपुर, 1995

त्रिपाठी, सरोजनी – *आधुनिक हिन्दी उपन्यास में वस्तु विन्यास*, आराधना प्रेस, कानपुर, 1973

दास, लाला श्रीनिवास – *परीक्षागुरु*, (सं. रामदरश मिश्र), ऋषभचरण जैन एवं संतति प्रकाशन, दिल्ली, 1974

द्विवेदी, हजारीप्रसाद – *साहित्य–सहचर*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1988

नगेन्द्र (सं0) – *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, मयूर पेपरबैक्स, दिल्ली, 1993

पाण्डे, दयानन्द (सं0) – *प्रेमचंद : व्यक्तित्व और रचना दृष्टि*, भावना प्रकाशन, दिल्ली, 1982

पाण्डेय, मैनेजर – *साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका*, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, 1989

पाण्डेय, रत्नाकर – *पत्रकार प्रेमचंद और हंस,* राजेश प्रकाशन, दिल्ली, 1977

प्रसाद, रत्नशंकर (सं0) – *प्रसाद वाङ्मय* (खण्ड–4), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1986

फॉक्स, रैल्फ – *उपन्यास और लोकजीवन,* (अनुवाद– डॉ0 रामविलास शर्मा), पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस, 1980

फिल्लौरी, श्रद्धाराम – *भाग्यवती* (सं0– हरमेन्द्र सिंह बेदी), निर्मल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1997

बिपिन चंद्र – *भारत का स्वतंत्रता संघर्ष,* हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 2001

मधुरेश – *हिन्दी उपन्यास का विकास,* सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2001

मार्क्स . एंगेल्स – *साहित्य तथा कला,* प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1981

मानव, विश्वंभर – *उन्नीसवीं शताब्दी के उपन्यासकार,* स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद, 1970

मिश्र, कृपाशंकर – *प्रेमचंद कथा साहित्य में हास्य–व्यंग्य,* राष्ट्रीय प्रकाशन, लखनऊ, 1980

मिश्र, रामदरश एवं गुप्त, ज्ञानचंद – *कथाकार प्रेमचंद,* राधा पब्लिकेशन, दिल्ली, 1997

यादव, राजेन्द्र – *स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों का मूल्यांकन,* अठारह उपन्यास, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1999

रहबर, हंसराज – *प्रेमचंद : जीवन कला और कृतित्व,* आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1962

राय, अमृत – *कलम का सिपाही,* हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1976

राय, गोपाल – *गोदान : नया परिप्रेक्ष्य*, अनुपम प्रकाशन, पटना, 1991

शर्मा, जगन्नाथ प्रसाद – *हिन्दी गद्य शैली का विकास*, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 1957

शर्मा, रामविलास – *प्रेमचंद*, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1994

शर्मा, रामविलास (सं0) – *प्रेमचंद रचनावली* (खंड–7 एवं 19), जनवाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1996

शर्मा, रामविलास – *भाषा और समाज*, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2000

शुक्ल, रामचन्द्र – *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संवत् : 2056

श्रीवास्तव, परमानंद – *उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा*, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1976

श्रीवास्तव, रवीन्द्र नाथ – *भाषायी अस्मिता और हिन्दी*, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1992

सत्यकाम – *आलोचनात्मक यथार्थवाद और प्रेमचंद*, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1994

सत्येन्द्र (सं0) – *प्रेमचंद*, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1976

सरोदे, पीताम्बर – *आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में राजनैतिक एवं आधुनिक चेतना*, अतुल प्रकाशन, कानपुर, 1987

सहाय, ब्रजनन्दन – *सौन्दर्योपासक*, (सं0– रमेश कुन्तल मेघ एवं हरमेन्द्र सिंह बेदी), ऋषभचरण जैन एवं संतति प्रकाशन, दिल्ली, 1978

सिंह, ओमप्रकाश – *प्रेमचंद के कथा साहित्य में हिन्दू–मुस्लिम संबंध*, राधा पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1995

सिंह, पारसनाथ – *प्रेमचंदकालीन उपन्यासों में ग्रामीण जीवन*, कैपिटल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1985

अंग्रेजी पुस्तकें :

Mukharjee, Meenakshi – *Realism & Reality : The Novel & Society in India*, Oxford University Press, Delhi, **1994.**

Lodge, David – *Language of fiction,* Routledge and kegan Paul, London, **1966.**

Pandey, Geetanjali – *Between Two worlds*, Manohar Publications, Delhi, **1989.**

पत्रिका :

आलोचना – (सं0) नामवर सिंह, अक्टूबर–दिसम्बर, 1988